मनोहरश्याम जोशी के उपन्यासों में सामाजिक चेतना

(विशेष संदर्भ : कसप और कुरु-कुरु स्वाहा)

एम० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशिका :

प्रो० (श्रीमती) सावित्री चन्द्र 'शोभा'

शोधकर्त्री :

शीला जोशी

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा संस्थान

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

जुलाई 1990

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध - मनोहर श्याम जोशी के उपन्यासों में सामाजिक चेतना : विशेष सन्दर्भ 'कसप' और 'कुरु-कुरु-स्वाहा' श्रीमती शीला जोशी का मौलिक शोधकार्य है जो मेरे निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। मैं एम॰फिल॰ उपाधि के लिए निर्धारित प्रावधानों के अन्तर्गत इसे परीक्षण के लिए भेजने योग्य समझती हूँ और इसके परीक्षण के लिए भेजने की संस्तुति करती हूँ।

अध्यक्ष
भाषा अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली- 110067

डा॰ (प्रो॰) सावित्री चन्द्रा 'शोभा'
हिन्दी विभाग, भाषा अध्ययन
संस्थान, जवाहरलाल नेहरू
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-67

दिनांक- 20-7-90

विषय सूची

आभार -	:		अ - स•
पहला अध्याय -	:	उपन्यास और सामाजिक चेतना-	1 - 16
दूसरा अध्याय -	:	मनोहर श्याम जोशी का परिवेश सांस्कृतिक परम्परा, व्यक्तित्व और कृतित्व-	17 - 47
तीसरा अध्याय -	:	सामाजिक चेतना - वर्ग विभाजन एवं जीवन मूल्य-	48 - 73
चौथा अध्याय -	:	उपसंहार	74 - 91
संदर्भ सूची -	:	उपन्यास, आलोच्य ग्रन्थ, पत्रिकाएं एवं अंग्रेजी पुस्तकें-	92 - 98

आभार

प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध को पूरा करने में कई व्यक्तियों ने मेरी सहायता की है। इनके प्रति आभार प्रदर्शन करना मेरे लिए परम हर्ष का विषय है।

सबसे पहले मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भाषा संस्थान के हिन्दी विभाग की अध्यक्षा वरिष्ठ प्रोफेसर डा॰ सावित्री चन्द्र 'शोभा' के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना चाहूंगी। यह कार्य उन्हीं के कुशल निर्देशन में सम्पन्न हुआ और जिस स्नेह, विद्वता और वात्सल्य के साथ उन्होंने मेरा मार्ग दर्शन किया उससे उऋण होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकती। उन्होंने न केवल मुझे शोध का विषय सुझाया बल्कि निरन्तर मेरा उत्साह वर्द्धन किया, दुर्लभ शोध सामग्री मेरे लिए जुटाने का कष्ट उठाया और शोध कार्य के दौरान अध्ययन विश्लेषण का सही तरीका बार-बार सिखलाया। उन्हें धन्यवाद देने के लिए शब्द मेरे पास नहीं हैं। मैं ये आशा कर सकती हूँ कि उनका महत्वपूर्ण मार्ग दर्शन मुझे भविष्य में भी मिलता रहेगा और वरदहस्त मेरे ऊपर रहेगा।

हिन्दी विभाग के अन्य गुरूजनों प्रो॰ नामवर सिंह, प्रो॰ केदार-नाथ सिंह तथा डा॰ मैनेजर पाण्डे ने समय-समय पर मेरा उत्साह-वर्द्धन किया जिसके लिए मैं उनकी आभारी रहूंगी।

श्री मनोहर श्याम जोशी उनके परिवार के सदस्यों, मित्रों, मुक्तेश्वर और दिल्ली में उनके सहयोगियों समकालीनों ने जिस उदारता के साथ मुझे जानकारियां दी उसके लिए मैं चिरऋणी रहूंगी।

मेरे परिवार के सदस्यों ने मेरे शोध कार्य के दौरान अनेक असुविधाओं को सहर्ष स्वीकार किया इसके लिए उनका आभार मानना आत्मीयता को ठेस पहुँच लगाना होगा। मेरी विदुषी सास एवं मेरे साहित्यानुरागी माता-पिता मेरे लिए प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। मेरे पति और देवर ने मुझे अध्ययन और शोध के लिए प्रोत्साहित किया है। मुझे इस बात का दुख है कि मेरे स्वर्गीय ससुर आज इस शोध कार्य को सम्पन्न होता देखने के लिए नहीं हैं निश्चय ही उन्हें इससे संतोष होता। इस अवसर पर मैं उनका पुन्य - स्मरण करती हूँ।

मेरे अनेक मित्रों ने इस शोध कार्य के दौरान मेरी बहुविद सहायता की है और मेरा मनोबल सौजन्य से बढ़ाया है। इस सस्नेह सहायता के लिए मैं इन सबसे उपकृत हूँ और उन्हें हृदय से धन्यवाद देती हूँ इनमें सर्व श्री सूर्यकान्त तिवारी, रमन हितकारी, सुसरो परवेज, रमाकान्त शुक्ल एवं कुमारी रजनी प्रमुख हैं। शोध प्रबन्ध का टंकण भाई प्रकाश ने बड़े मनोयोग से किया है मैं यही कामना करती हूँ कि वह निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर हो। भतीजे इन्द्रजित और अपने बेटों राजीव एवं विक्रमादित्य से मैं सिर्फ इतना कह सकती हूँ कि उन्हें मेरे शोध कार्य के दौरान जो भी असुविधा हुई अब आगे नहीं होगी।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय कर्मचारियों के प्रति मैं धन्यवाद ज्ञापन करती हूँ जिन्होंने मेरे इस काम को सुगम बनाया।

आत्मीय स्वजनों में ललित एवं आशुतोष उल्लेखनीय हैं इन्हें भी इस काम के पूरा होने से संतोष होगा। अन्त में इस लघु शोध प्रबन्ध में व्यक्त विचारों त्रुटियों के लिए एक मात्र उत्तरदायी मैं स्वयं हूँ। गुरूजन एवं सदय मित्र, मैं आशा करती हूँ सदा की भाँति कृपा पूर्वक कमियों को अनदेखा करेंगे।

परिवार के वयोवृद्ध सदस्य स्वतंत्रता सेनानी श्री मोहन चन्द्र पंत की गहरी रुचि मेरे शोध कार्य में रही है उनके आलोचनात्मक टिप्पणियों से मैं लाभान्वित होती रही हूँ मैं उनका आभार मानती हूँ।

अन्त में शोध निर्देशिका प्रो॰ डॉ सावित्री चन्द्र 'शोभा' के प्रति हार्दिक आभार अभिव्यक्त करने के साथ में सभी मित्रों स्वजनों को धन्यवाद देती हूँ।

शीला जोशी

पहला अध्याय

उपन्यास और सामाजिक चेतना -

आचार्य राम चन्द शुक्ल ने एक प्रसिद्ध स्थापना की है जो सूत्रवाक्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है— 'साहित्य समाज का दर्पण है।' साहित्य की सभी विधाएं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक यथार्थ को प्रतिबिम्बित मुखर करती हैं। हर लेखक की संवेदना उसके देश काल के अनुसार उभरती है, प्रतिभा, परिवेश एवं परिस्थितियों के प्रभाव से विकसित या कुंठित होती हैं। इस बारे में दो मत नहीं हो सकते कि हर लेखक कवि या नाटककार, कहानीकार या उपन्यासकार अपनी रचनाओं में किसी न किसी स्तर पर अपना सामाजिक चैतन्य प्रकट करता है।

लेखक औरों की अपेक्षा कहीं अधिक संवेदनशील होता है और यह स्वाभाविक ही है कि उसकी रचना-प्रेरणा, रचना-प्रक्रिया इस संवेदनशीलता से अनुकूलित होती है और सामाजिक चैतन्य से ही वह अपनी दिशा तय करता है। जो लोग शुद्ध कलावादी, रूपवादी हठ पाले रहते हैं वे भी जड़ नहीं होते, उनका सामाजिक चैतन्य भी उन्हें राजनैतिक पक्षधरता, प्रतिबद्धता की विभाजन रेखाओं के एक या दूसरी ओर अपनी जगह लेने को विवश करता है। यह कहना तर्क संगत है कि जो व्यक्ति लेखनी उठाता है वह सम्प्रेषण के द्वारा समाज की एक या अनेक इकाइयों, समूहों से स्वाभाविक रूप से जुड़ता है तथा अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति के द्वारा एक संवाद आरम्भ करता है। यह सब सामाजिक चेतना के अभाव में सम्भव नहीं। यदि आदि कवि बाल्मिकी क्रौंच पक्षी के वध से मर्माहत हो कविता रचना के लिए उद्यत नहीं होते तो कैसे वे बहेलिये को रोक सकते? कहीं न कहीं ही नहीं,

बल्कि सर्वत्र स्वांत: सुखाय रचना बहुजन को ही संबोधित करती है। चूंकि हर चेतन व्यक्ति कुछ मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध होता है और अपनी आस्था साहस और क्षमता के अनुसार उनकी रक्षा के लिए संघर्ष का सक्रियत: संकल्प करता है। जिसकी अभिव्यक्ति एक लेखक की रचनाशीलता में होती है। अत: उपन्यासकार इसका अपवाद नहीं हो सकता।

विश्व साहित्य के संक्षिप्ततम सर्वेक्षण से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जायेगी। प्राचीन यूनान में महाकाव्यरचीयता होमर हों या स्वयं भारतीय परंपरागत महाभारत, रामायण या पुराण लेखक की इस सामाजिक चेतना के दर्शन सर्वत्र होते हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में रस निष्पत्ति के जो सिद्धान्त उजागर किये हैं उनका महत्व भी इस सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में ही समझ में आता है। लेखक जिन भावों अनुभावों के माध्यम से दर्शक या पाठक के मन में जिस रस का संचार करना चाहता है- क्रोध, वीर, हास्य या करुण या और कुछ वह इसी पर निर्भर होता है।

कुछ बातों से हमें गुस्सा आता है, कुछ और से हम जोश में भर उठते हैं या कुछ और स्थितियों में हमारा मन पात्रों के प्रति सहानुभूति से भर उठता है। स्वयं लेखक इसी प्रक्रिया से गुजरता है और अपने इस अनुभव को रूपान्तरित कर पाठक का निजी अनुभव बन जाता है। लेखक किस विषय को चुनता है, किन पात्रों को किस तरह चित्रांकित करता है उसकी अपनी सामाजिक चेतना के अनुसार ग्रहण करता है। एक रचनाकार की सामाजिक चेतना उसके परिवेश, शिक्षा-दीक्षा और उन संस्कारों से बनती है, जो उसको अपनी सांस्कृतिक परम्परा और थाती के रूप में प्राप्त होते हैं। अत: कहा जा सकता है कि लेखक की संवेदना उसकी सामाजिक चेतना से भिन्न नहीं होती। उसकी सारी सर्जना, सारा रसास्वादउसी पर टिका रहता है।

युग चेतना, सामाजिक चेतना तथा राजनैतिक-आर्थिक परिवर्तन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

यहां यह जोड़ना भी आवश्यक है कि भारतीय परिवेश में हिन्दी उपन्यास आरम्भ से ही स्पष्ट मुखर सामाजिक चेतना प्रतिबिम्बित करते रहे हैं। यों पुराणों और महाकाव्य आदि में उत्तराधिकार में प्रमुखत: किस्सा-गोई पर ही जोर दिया है, पर यह सारे कथानक निरुद्देश्य नहीं हैं। नीति-निर्देश या सामाजिक विकृति कुरीति आदि पर सुधारात्मक टिप्पणी को रोचक ढंग से प्रस्तुत करना इनका प्रमुख उद्देश्य होता है। बाद में हिन्दी भाषा के उद्भव और विकास के प्रारंभिक दौर में तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियों में लेखकों की सामाजिक चेतना को कभी कुन्द नहीं होने दिया। भारतेन्दु जैसे गद्यकार क्रान्तिकारी भले ही न रहे हों यथास्थिति का पोषण समर्थन करने वाले भी नहीं थे। असहमति, असंतोष और आक्रोश को उन्होंने वाणी दी। बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र आदि निबन्धकार भी प्रखर समाज सुधारक और कुव्यवस्था के निर्भीक आलोचक थे। हिन्दी गद्य के इस जुझारू संस्कार का लाभ हिन्दी के उपन्यासकार सहज ही उठाते रहे हैं।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक के आसपास लिखने वाले लोगों के सामने महायुद्ध की सब कुछ उथल-पुथल कर देने वाली सर्वनाशीय विभीषिका तो थी ही रूस में बोल्शेविक क्रान्ति ने सफलता का साथ दिया। इस समय तक लॉर्ड मेकॉले के कुख्यात नोट के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में बहुत सारे ऐसे बाबू लोग पैदा हो चुके थे जो अंग्रेजी पढ़ सकते थे और अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से ही सही फ्रांसीसी और रूसी उपन्यासों से अपना परिचय बढ़ा चुके थे। यह सिर्फ संयोग नहीं था कि बन्देमातरम् के सुर से अपने देशवासियों

को रोमांचित पुलकित करने वाले बंकिमचन्द चट्टोपाध्याय के उपन्यास वाटर-स्काट के उपन्यासों की शैली में लिखे जाते थे। आनन्दमठ की पृष्ठभूमि की तैयारी की थी, ने केवल 1857 की क्रान्ति ने बल्कि औपनिवेशिक शोषण से उत्पन्न अभाव और द्वेष के वातावरण ने। जिस भावना से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को संबोधित किया था 'क्लैब्यम मास्म गहम पार्थ।' वही भावना बंकिम को भी लिखने को कचोट रही थी। अंग्रेजी शासन और शिक्षा के प्रचार ने देश के विभिन्न भागों की यात्रा को सहज बनाया और क्षेत्रीय लेखकों को राष्ट्रव्यापी पाठक वर्ग के सामने आने का मौका दिया। यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि हिन्दी उपन्यासकारों की पहली पुरखों वाली पीढ़ी में अनेक ऐसे थे जो स्वयं बंगाली पढ़ सकते थे और इनकी रचनाओं में बंकिम का तथा उनके परवर्ती बांग्ला लेखकों का साफ प्रभाव दिखाई देता है।

यदि बंकिम की सामाजिक चेतना राजनैतिक चेतना के साथ गुंथी हुई थी तो उनके परवर्ती रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरदचन्द चट्टोपाध्याय ने अपने इर्द-गिर्द सामाजिक विश्व को अपने को उद्वेलित करते रहने के लिए यथेष्ठ पाया। यदि रवि बाबू जन साधारण को अपनी रचनाओं के नायक-नायिका बनाते हैं, उनके सुख-दुख को अपने लिए और प्रकारान्तर से महत्व-पूर्ण समझते है तो शरद अबला नारी, गांव-कस्बों में वर्ग-भेद या समाज द्वारा उपेक्षित तिरस्कृत पथ-भ्रष्ट पात्रों को प्रमुखता देते हैं। यह सिर्फ किसी सनक का लक्षण नहीं है बल्कि यह बदलते युग के साथ बदलती विचारधारा, नये किस्म की सामाजिक चेतना को प्रतिबिम्बित करता है।

भारतीय भाषाओं के ये कालजेयी रचनाकार बाल्जाक, फ्लोबेयर, टॉलस्टाय और दास्तोव्स्की तुर्गनेव आदि की रचनाओं से भली- भाँति परिचित हैं। जब ये उपन्यास लिखे गये थे तो जीवन के विशाल चित्रसदन को सूक्ष्मतम रेखाओं से विविध रंगो में सजा कर प्रस्तुत करने का प्रयत्न इनका रहा। मदाम बोवारी हो, लामिजराब, क्राइम एण्ड पनिसमेंट या वार एण्ड पीस इनको क्लासिक का दर्जा प्रदान करने वाली चीज लेखक की वह सामाजिक चेतना ही है जो हमें पढ़ते-पढ़ते सोचने के लिए विवश करती है और बार-बार इन रचनाओं तक लौटा ले जाती है। वार एण्ड पीस का पीयेर सामन्ती विलासी समाज में बाहरी नाजायज सन्तान होने के कारण उसके क्रिया-कलाप और उसकी संवेदना इससे ही अनुशासित होती है। उसके प्रति पाठक की सहानुभूति पैदा करने का प्रयत्न टॉलस्टाय ने बड़े श्रम से सायास किया है। इसी तरह दॉस्तोव्स्की के पात्र, ग्रेण्ड इंक्वीजिटर जैसे, हमें समसामयिक संदर्भ में पाप-पुण्य भले और बुरे के बारे में सोचने के लिए विवश करते है। यही बात विक्टर ह्यूगो के उपन्यासों में भी थी। क्यों ओलिवर-ट्वीस्टजैसा मासूम बच्चा जल्लाद सरीके अभिभावकों, आश्रय-दाताओं के चंगुल में कष्ट पाता रहा, क्यों अनाथ डेविड कॉपर फील्ड को आगे बढ़ने के लिए पग-पग पर संघर्ष करना पड़ा यदि हंच बेक आफ नोत्रो दाम का कुबड़ा बेकसूर कुर्बान होने को मजबूर है तो इसमें दोष किसका है?

इन सब बातों को यहां दोहराना इसी लिए जरूरी है कि यह बात रेखांकित की जा सकती है कि हिन्दी उपन्यास अपने जन्म से ही सामाजिक उत्तरदायित्व से परिचित कराया जा चुका था। जिस समय भारत राजनैतिक उथल-पुथल के निर्णायक दौर से गुजर रहा था उसी समय

में हिन्दी उपन्यास अपने पैरों पर खड़ा हो चलना सीख चुके थे। लार्ड कर्जन की अदूरदर्शी नीति ने बंगाल का विभाजन कराया। देश भर में स्वदेशी की लहर दौड़ी, अरविन्द घोष जैसे क्रान्तिकारियों ने वातावरण गर्माया और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की गरम-दल वाली बाल-लाल-पाल वाली टुकड़ी ने गरमदल वालों को विस्थापित कर दिया और भारत में गांधी के आविर्भाव ने कांग्रेस के मध्य वर्गीय सुधारवादी कार्यक्रम को व्यापक जनआन्दोलन में बदल दिया। यह वह दौर था जब मद्रास से चल कर बनारस पहुंचे सुब्रमण्यम भारतीय ने सिखों की पगड़ी धारण की। ऐसे में कौन ऐसा लेखक हो सकता था जिसकी सुप्त सामाजिक चेतना का विस्फोट ज्वालामुखी की तरह न हो जाय?

राजनैतिक-आर्थिक परिवर्तन और सामाजिक चेतना :

समाज में परिवर्तन के कारणों में सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का उतना ही महत्व है जितना राजनीतिक परिस्थितियों का। राजनीतिक परिवर्तन देश की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं तो सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियां भी देश की शासन व्यवस्था को प्रभावित करती हैं।

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारतीय समाज व्यवस्था गांवों पर आधारित थी। ग्राम-समाज वर्ग व्यवस्था की श्रृंखलाओं में जकड़ा हुआ था।

"गांव का सामाजिक स्तर संकीर्ण और सांस्कृतिक स्तर निम्न था। गांव के लोग इस प्रकार शताब्दियों तक एक ही जड़, अन्धविश्वासों, संकीर्ण और अपरिवर्तित सामाजिक और बौद्धिक स्थिति में रहे। मसलन भारतीय जनता एक ऐसे अन्धविश्वास में जकड़ी हुई, एक से देवी-देवताओं को मानती हुई, एक ही संकीर्ण जातीय और ग्राम-चेतना के प्रभाव से सीमित और स्थानीय दास्य ग्राम्य जीवन में बाद्ध थी।" 1

अंग्रेजों के आगमन के साथ भारत में उस नवीन दृष्टिकोण का प्रवेश हुआ जिसमें नवजागरण, औद्योगिकरण, वैज्ञानिक अन्वेषण, जागरूकता, नवीनता और ताजगी का समावेश था। "यूरोपीय आधुनिक क्रान्ति के फलस्वरूप पाश्चात्य देशों के विचार क्षेत्र में जो क्रान्ति हुई थी, उसका प्रभाव ऐतिहासिक घटनाचक्र के कारण भारतीय जीवन पर भी पड़ा। यहां दुनियां की चीजों को देखने-परखने की पद्धति बदली, विचारक्रम बदला और शीर्ष ही धर्म तथा धार्मिक नैतिकता एवं पारलौकिकता के स्थान पर समाज, चारों ओर का जीवन, देश आदि बातें शिक्षितों का ध्यान आकृष्ट करने लगीं। निस्सन्देह यह शिक्षित समुदाय नवोदित मध्यम वर्ग था..... वह बौद्धिक पिपासा और प्रगति की आकांक्षा से ओत - प्रोत था और उसी पर समाज के नवनिर्माण का उत्तरदायित्व था।" 2

पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति के संघर्ष ने मध्यम वर्ग को दो भागों में विभाजित कर दिया— नौकरी पेशा करने वाला वर्ग विलासिता की ओर

---

1. ए.आर. देसाई : सोशल बैकग्राउंड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, पृ. 12.
2. डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : बीसवीं शताब्दी हिन्दी उपन्यास : नए संदर्भ, पृ. 250.

उन्मुख होने लगा। पश्चिम का अन्धानुकरण करने लगा। साधन सम्पन्न होने के कारण यह वर्ग अपने को सामान्य जनता से भिन्न मानता था। दूसरा वर्ग शिक्षकों, डाक्टर, वकीलों का था। ये भी पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त थे किन्तु ये पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण न कर नवीन आलोचनात्मक दृष्टि को अपनाये हुए थे। इस युग के समाज-सुधारकों ने ऐसी शिक्षा पर बल दिया जो भारत की सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा कर सके। इस प्रकार भारत में चेतना के नवीन क्षितिजों का उदय हो रहा था। "यह चेतना धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक, चारित्रिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक आदि विविधता सम्पन्न थी।" [3]

सोवियत संघ में बोल्सेविक क्रान्ति की सफलता के बाद साहित्य को मार्क्सवादी अनुशीलन विश्लेषण की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी। साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक यथार्थवाद का ज्वार चढ़ रहा था, उपन्यासकारों के आदर्श मैक्सिम-गोर्की थे। भारत में और खासकर हिन्दी प्रदेशों में प्रगतिशील विचारधारा का प्रभाव बढ़ रहा था। इसी चरण में कुलीन नेहरू ने अपना नाता विपन्न किसानों से जोड़ा जो साहित्यक बैठकों और गोष्ठियों से निकल कर खेत-खलिहानों धूल भरी झोपड़ियों कच्चे रास्तों तक पहुंचता था। इस युग के प्रमुख हिन्दी उपन्यासकार मुंशी प्रेम चन्द की कोई भी रचना प्रखर सामाजिक चेतना से बंचित नहीं कही जा सकती है-गोदान, कर्मभूमि, रंग-भूमि, निर्मला आदि अलग-अलग सामाजिक समस्याओं को छूते

---

3. डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : बीसवीं शताब्दी : हिन्दी उपन्यास: नए सन्दर्भ, पृ. 25।

ही नहीं, अच्छी तरह टटोलते हैं और अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने की प्रेरणा देते हैं। प्रेम चन्द के समकालीन प्रसाद के उपन्यास भी यही बात दर्शाते हैं। यों बहुत समय से यह भ्रान्ति पाली जाती रही है कि प्रसाद के उपन्यास गद्य में लिखी छायावादी कविता ही हैं रोमानी और पलायनवादी जिनसे सिर्फ लेखक के दुर्बल सामाजिक चैतन्य का ही पता चलता है। पर ऐसा सुझाना प्रसाद के प्रति बड़ा अन्याय है। प्रसाद अपने उपन्यासों में, कहानियों में वही काम कर रहे थे जो इतिहास लेखन के क्षेत्र में डॉ॰ काशी प्रसाद जायसवाल या प्रो॰ नीलकंठ शास्त्री। वे अतीत की ओर इसलिए नहीं मुड़े कि दुखद वर्तमान का मुकाबला नहीं कर सकते थे बल्कि वे उस गौरव पूर्ण स्वर्णिम अतीत का अन्वेषण करने में पलटे थे जो उनके देशवासियों को उनका आत्म-सम्मान फिर से लौटा सके। उनके पात्र प्रेम चन्द के पात्रों से कम प्रगतिशील और जुझारू हैं। दोनों की रचना धार्मिक शैली और शिल्प के बुनियादी फर्क के बावजूद स्वर और संदेश में विशेष अन्तर नहीं। प्रसाद के तितली और कंकाल की घटनायें कथानक, चरित्र-चित्रण और संवाद प्रेम चन्द की तरह हमें जीवन की बुनियादी सवालों, हमारे सामाजिक रिश्तों के बारे में निसंगता से सोचने का निमन्त्रण हमें देते हैं। प्रसाद किसी भी मायने में प्रेमचन्द से कम प्रगतिशील उपन्यासकार नहीं दीखते। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रगतिशील शब्द का प्रयोग मार्क्सवादी, साम्यवादी या समाजवादी के पर्याय के रूप में नहीं किया जाता। प्रगतिशील से हमारा अभिप्राय सिर्फ उन मानसिकता को उद्घाटित करना है जो जड़ निष्प्राण अतीत को बोझ की तरह नहीं ढोती बल्कि परम्परा को बड़े जीवट के साथ भविष्य के निर्माण के लिए उद्यत रखती हैं।

हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक-राजनैतिक चेतना

किसी भी लेखक की संवेदना को उसकी उसकी युग चेतना प्रभावित करती है। युग चेतना के अनुसार ही निर्धारित मूल बदलते हैं इसलिए यह समझना महत्वपूर्ण है कि युग चेतना का निर्माण कौन से तत्व करते हैं। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक घटक प्रमुख हैं, इनमें भी आर्थिक एवं राजनैतिक घटक अपेक्षाकृत गुरुतर भूमिका निभाते हैं। उत्पादन एवं वितरण की प्रणाली के अनुसार राजनैतिक व्यवस्था उभरती है और इसी के अनुसार किसी भी समाज में धर्म संस्कृति का स्वरूप उभरता है। अर्थव्यवस्था और राजनैतिक प्रणाली वास्तव में साहित्य के सन्दर्भ में अलग-अलग नहीं देखे जा सकते क्योंकि लेखक हो या अन्य कोई रचनाधर्मी कलाकार वह देश काल के यथार्थ से अछूता नहीं रह सकता, स्वयं उसका अस्तित्व वैभव और विपन्नता की दो धुरियों के बीच निरन्तर महसूस होता है और उसे इन विषयों पर सोचने, मुखर होने के लिए बाध्य करता है। साहित्य के इतिहास के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि उपन्यास विधा के लेखक सामाजिक चेतना के संदर्भ में इस तथ्य को प्रखर रूप से उद्घाटित करते हैं। हिन्दी उपन्यास इसका अपवाद नहीं। इसके उदभव और विकास के संक्षिप्ततम सर्वेक्षण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि औपनिवेशिक स्वाधीनता संग्राम ने हिन्दी उपन्यास लेखकों की सामाजिक चेतना को इस तरह जागृत किया।

सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन होने के कारण साहित्य के आदर्श भी युगानुकूल बदलते रहते हैं। मानव अपने व्यक्तिगत जीवन की धारणाओं और संस्कारों के अनुसार मूल्यों एवं आदर्शों का अनुसरण करता है। "हमारा विगत सदैव हमारे साथ रहता है और जो कुछ हम हैं, तथा जो कुछ

हमारे पास है, हमें अपने विगत से ही प्राप्त हुआ है। हम उसी की उपज हैं और उसी में डुबकियां लेते हुए जीवित रहते हैं। अपने विगत को न समझना, उसका अनुभव न करना, अपने आप में ही डूबते-उतरते रहना, अपने वर्तमान को ही न समझना है। भूत को वर्तमान से, सम्बद्ध करते हुए, उसे भविष्य से जोड़ते हुए, जहां वह जोड़ा नहीं जा सकता वहां उसे अलग करते हुए, उसे विचारों और कृतियों की सजीव-सचेतन, सप्राण और स्फूर्ति-दायक सामग्री बनाना ही जीवन है।"[4]

सामाजिक परिवर्तन का कारण विगत एवं वर्तमान की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियां हैं। ये विभिन्न परिस्थितियां ही समाज में मूल्यों व संघर्ष की स्थिति को उत्पन्न करती हैं।

आजादी के पहले, उपनिवेशवाद विरोधी जनान्दोलन में व्याप्त रूप से सामाजिक चैतन्य को जागृत किया। राष्ट्रीय कांग्रेस के दस्तावेजों में इसका लेखा-जोखा मिलता है। साहित्य पर इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। 1930 के घोषणा-पत्र में भारतीय समाज की क्या दशा थी इसका स्पष्ट संकेत मिलता है— "राजनीतिक दृष्टि से भारत का दर्जा जितना अंग्रेजों के जमाने में घटा है, उतना पहले कभी नहीं घटा था... संस्कृति के लिहाज से, शिक्षा प्रणाली ने हमारी जड़ ही काट दी और हमें जो तालीम दी जाती है, उससे हम अपनी गुलामी की जंजीरों को ही प्यार करने लगे हैं। अध्यात्मिक दृष्टि से हमारे हथियार जबर्दस्ती

---

4. पं. जवाहरलाल नेहरू: डिसकवरी ऑफ इण्डिया, पृ. 2।

छीनकर हमें नामर्द बना दिया गया है।[5]

स्वतंत्रता से पहले भारतीयों के सम्मुख केवल एक ही ध्येय प्रमुख था- स्वतन्त्रता। किन्तु स्वतंत्रता के तुरन्त बाद अनेक समस्यायें सामने आ गई। इनमें पुनर्वास की समस्या, देशी राज्यों के विलीनीकरण, प्रशासनिक इकाईयों के निर्माण एवं विस्तार, शिक्षा एवं राष्ट्र निर्माण की समस्या प्रमुख है। अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर भारत ने अपने आप को तटस्थ देश के रूप में उभारा।

भारतीय समाज में आर्थिक असमानता, वर्ग संघर्ष, मध्यवर्गीय जीवन का शिथिलीकरण, वैयक्तिक तनाव, नये पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का द्वन्द, समाज और व्यक्ति का आपसी वैमनस्य, एवं उससे उत्पन्न कठिनाइयाँ, शिक्षित नारी का नवीन विकास तथा संयुक्त परिवार का विघटन आदि तत्व लेखकों की सामाजिक चेतना को प्रभावित करते रहे हैं।[6]

उपन्यासकार समाज के जीवन में प्राय: घटने वाली घटनाओं को उपन्यास के परीक्षण पात्र में रह कर यह देखना-दिखाना चाहते हैं कि किस प्रकार इन घटनाओं से हमारी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है या समाज के नए अनुभव कैसी नई विचारधारा को जन्म देते हैं। आधुनिक उपन्यासकारों ने आधुनिकीकरण के परिवर्तित परिवेश एवं उसके परिणामों को अपनी रचनाओं के माध्यम से स्पष्ट करना चाहा है। परम्परागत सामाजिक मूल्य एवं संस्कारों को नकारते हुए हिन्दी उपन्यासकारों ने

---

5. पट्टाभि सीतारमैय्या : कांग्रेस का इतिहास, नई दिल्ली, 1985 पृ. 281-82.
6. विस्तार के लिए देखें डा. प्रेमकुमार : समकालीन हिन्दी उपन्यास कथ्य विश्लेषण, पृ. 208-209.

नवीन नैतिक प्रतिमानों को महत्व दिया है। आधुनिक स्वस्थ परंपराओं ने व्यक्ति और समाज के मानसिक जगत में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किये हैं।[7]

स्वतन्त्रता के पश्चात समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। वर्ग विभाजन पहले से कहीं अधिक स्पष्ट और कटु हुआ। चार प्रमुख वर्ग स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं- पूंजीवादी या उद्योगपति वर्ग, मजदूर या कामगार वर्ग, किसान वर्ग व बुद्धिजीवी एवं पेशेवर वर्ग। मुख्यतया बुद्धिजीवी और पेशेवर वर्ग को मध्य वर्ग में शामिल किया जाता है। ये चारों वर्ग अलग-अलग सिद्धान्तों के प्रतीक हैं। पूंजीवाद, औद्योगिकरण, पाश्चात्य अनुकरण, भौतिक साधनों की उन्नति ने एक ओर बड़ी-बड़ी इमारतों, राजभवनों {सम्पन्नता के प्रतीक} को खड़ा किया है तो दूसरी ओर गरीबी के प्रतीक हजारों झोपड़े नित्य पनपते जा रहे हैं। जो देश के मुख्य दो वर्गों का प्रतिनिधित्व करते है। उच्च मध्य वर्ग बड़े और छोटे पूंजीपतियों का था और झोपड़ियां भारत की असंख्य सामान्य जनता मजदूरों और किसानों के हैं इन्हें मोटे तौर पर निम्न वर्ग में ही शामिल किया जाता है। इस अन्तर्विरोध समाप्त करने के लिए संविधान ने महत्वपूर्ण पहल की। कानून के सामने सभी नागरिक समान हैं और जनतंत्र ने व्यक्ति की महत्ता को प्रतिष्ठित किया सामन्ती जकड़ को चुनौती दी। इस सब घटनाक्रम में संवेदनशील उपन्यासकारों को उद्वेलित किया और उनकी सामाजिक चेतना का प्रश्न पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण बन गया है।

---

7. देखें उपन्यासकार यशपाल की टिप्पणियां- देखा सोचा समझा पृ. 101.

बदलती युग चेतना और सामाजिक चेतना :

स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में हिन्दी उपन्यास : राजनैतिक विचारधाओं का टकराव —

स्वतंत्रता के बाद से शहरीकरण, औद्योगीकरण तेजी से बढ़ा है और इसने लेखकों की ही नहीं जन साधारण की मानसिकता में भी क्रान्तिकारी बदलाव ला दिया है। शहरों में गन्दी बस्तियां जगह-जगह फैली हैं और इनमें जीवनयापन करने वाले अनायास बेहद अनइच्छापूर्वक मानवीय गरिमा खो देते हैं। पारंपरिक मूल्य इस परिवेश में अक्षत नहीं रह सकते और संबंधों का नकदीकरण होने लगता है। जो लोग अपेक्षाकृत समृद्ध हैं वे भी आधुनिक जीवन के यन्त्रीकरण और पाश्चातीकरण के औपनिवेशिक आतंक के कारण अलगाव के शिकार हो जाते हैं। पूंजीवाद का प्रसार उत्पीड़न शोषण को मार्मिक बनाता है और सामाजिक विषमता को बढ़ाता है। अनेक समाज शास्त्रियों ने विचारोत्तेजक टिप्पणियां की हैं कि नैतिकता के मापदण्ड ढीले हो रहे हैं कुटुम्ब कबीले परिवार आदि का नियंत्रण क्षीण होता जा रहा है। साक्षरता और सामाजिक गतिशीलता ने संयुक्त परिवार के ढांचे पर असहनीय दबाव डाला है। व्यक्ति अपनी तर्क बुद्धि के आधार पर अपनी जाती जिन्दगी के बारे में निर्णय लेना चाहता है और जाहिर है कि इसके सामाजिक परिणाम अनदेखा नहीं किये जा सकते। कुछ उपन्यास लेखक परम्परा को नकार कर विप्लव वाली मुद्रा ग्रहण करते हैं तो कुछ अन्य अपनी जड़ों की खोज में जुटते हैं और मोक्ष का मार्ग कर्म काण्ड या पुराणों में ढूंढने लगते हैं।[8] कुल मिलाकर उपन्यासकार की सामाजिक चेतना उसकी कुल रचना प्रक्रिया के लिए, पाठक के लिए, उसके साहित्यिक मूल्यांकन के लिए अतिशय महत्वपूर्ण कसौटी के रूप में सुझाई जाने लगी है।

---

8. कन्नड़ा उपन्यासकार यू. आर. अनन्तमूर्ति की रचनायें इसका अच्छा उदाहरण है। समाज शास्त्रियों में भारत में आधुनिकीकरण विषयक पुस्तकों और लेखों के संदर्भ में डाक्टर एम.एल. श्रीनिवास, प्रो. योगेन्द्र सिंह, आन्द्रे बेतीय और डा. श्यामाचरण शुक्ल उल्लेखनीय हैं।

आजादी के बाद लिखे गये हिन्दी उपन्यासों में समाज में फैली कुरीतियों और विषमताओं को खोज कर दिखाने इनके विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा देने की प्रवृत्ति लेखकीय चेतना में मिलती है। शोध कर्ताओं ने हमारा ध्यान इस ओर दिलाया है कि मार्क्स और फ्रायेड के विचारों ने स्वतंत्रता के उत्साह को दिशा दी और मध्य युगीन मान्यताओं रूढ़िग्रस्त विचारों पर नवीन चेतना का प्रहार सम्भव हुआ। लगभग हर महत्वपूर्ण उपन्यासकार को इस बात का एहसास रहा है कि वर्तमान संक्रमणकाल है स्थिरता दुर्लभ है और लेखक को इस दौर में पीड़ित, शोषित जनता की पक्षधरता करनी ही पड़ेगी। उसे सनातनी पारंपरिक करुणा का जामा पहनाया जाय या क्रान्तिकारी साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण मूल्य मानवीय ही रहे हैं।[9]

प्राचीन काल से ही भारतीय परम्परा 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' को पोषित करती रही है और परोपकार की प्रशंसा। दार्शनिकों सन्तों का प्रयत्न व्यष्टि और समष्टि के बीच सामनजस्य पेदा करना और संतुलन बनाना रहा है। भगवती चरण वर्मा हों या फणीश्वर नाथ रेणु - शहरी लेखक हो या आंचलिक, समाज में समानता की स्थापना को एक आदर्श माना जाता रहा है।[10]

---

9. विस्तार के लिए देखें डा. चण्डी प्रसाद जोशी हिन्दी उपन्यास: समाज शास्त्री अध्ययन पृ. 16 तथा डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 82. तथा श्री नारायण अग्निहोत्री उपन्यास तत्व एवं रूप विधान पृ. 165.

10. भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास रेखा तथा वह फिर नहीं आई : धर्मवीर भारती का सूरज का सातवां घोड़ा, अमृत लाल नागर का अमृत और विष, फणीश्वरनाथ रेणु का परती परिकथा एवं मैला आंचल विशेष उल्लेखनीय हैं। यह सारे उपन्यास संक्रमणकालीन सामाजिक चेतना को निरन्तर प्रतिबिम्बित करते हैं और लेखक-पाठक के बीच एक रोचक राजनैतिक संवाद की शक्ल ले लेते हैं। इनमें जाति वर्ग भेद का खुला विरोध दीखता है।

अमृत लाल नागर, भगवती चरण वर्मा, फणीश्वर नाथ रेणू ने वर्ग जनित, जातिगत विषमता का विरोध किया है तो शिव प्रसाद सिंह और राही मासूम रजा ने साम्प्रदायिक भेद भाव का।[11] विभिन्न राजनीतिक दलों के पोषकों-समर्थकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप जन-जीवन के बीच विचारधाराओं को प्रसारित किया है। आधुनिक काल में भारत की राजनीति में जहाँ एक विशाल जनसमूह महात्मा गांधी का अनुयायी है वहीं मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचार भी उत्तरोत्तर विकास करता जाता है। यह स्थिति नितान्त स्वाभाविक है। फलत: लेखकों के द्वारा भी उसी रूप में उनकी कृतियों में विचारों का समर्थन किया गया है।

'देशद्रोही' में यशपाल ने मार्क्सवाद का खुला समर्थन किया है। इस उपन्यास में 'दादा कामरेड' की भाँति अन्य भारतीय राजनैतिक दलों की छीछलेदर नहीं की गई है, बल्कि 'लेखक का एकमात्र लक्ष्य भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का समर्थन करना है। वह साम्यवाद का प्रचार करना चाहता है तथा 1942 ई॰ में लिये गये देश द्रोह का कलंक अपनी औपन्यासिकता के द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी के कलंक से धोना चाहता है।[12] यशपाल के उपन्यासों के बारे में एक शोध कर्ता ने बिल्कुल सटीक टिप्पणी की है, "प्रेमचन्द्र के उपन्यास जिस तरह गांधीवादी युग के भारतीय जीवन को चित्रित करते हैं, यशपाल का प्रस्तुत उपन्यास उसी तरह उत्तर गांधी-वादी युग की चेतना को व्यक्त करता है।"[13]

11॰ देखें- 'अबहों नाचो बहुत गोपाल', 'आधा गांव' तथा 'परती परिकथा' आदि एवं 'अलग अलग वैतरणी।'

12॰ त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद पृ॰ 206॰

13॰ डा॰ सुषमाधवन : हिन्दी उपन्यास , पृ॰ 269

दूसरा अध्याय

मनोहर श्याम जोशी का परिवेश सांस्कृतिक परंपरा, व्यक्तित्व और कृतित्व -

मनोहर श्याम जोशी की रचनाओं में उनका जन्म-जात संस्कार, प्रतिभा और उत्तराधिकार में प्राप्त पारम्परिक मूल्यों के प्रति गहरी आस्था स्पष्ट झलकती है। उपन्यासों के कुछ पन्ने पलटते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लेखक कुमाऊँनी ब्राह्मण समाज से जुड़ा है और विविध विषयों में उसकी रुचि है। चमत्कारी वाक् वैदग्ध्य के दर्शन पग-पग पर होते हैं। आम तौर पर इसी कारण यह बात यथावत् स्वीकार कर ली जाती है कि लेखक विलक्षण प्रतिभा का स्वामी, आभिजात्य वर्ग का सदस्य है और उसकी सामाजिक चेतना इसी से प्रभावित अनुशासित होती है। थोड़ा गहरा पैठने वाले यह पता लगा सकते हैं कि जोशी जी कभी कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थक थे और एक तरह का प्रगतिशील तेवर भी इन रचनाओं में देखा जा सकता है। पर यह सब सरलीकरण हमें सार्थक निष्कर्ष तक नहीं पहुंचा सकते। लेखक के उपन्यासों में सामाजिक चेतना के स्वरूप, उसके विकास और उसकी भूमिका का समुचित अध्ययन करने के लिए लेखक की जीवनी पर अधिक विधिवत् दृष्टिपात की जरूरत अभी बची है।

मनोहर श्याम जोशी का जन्म 9 अगस्त 1933 को साहित्य एवं कलानुरागी कुमाऊँनी परिवार में हुआ था। साक्षात्कार से प्राप्त सामग्री के आधार पर एक शोध कर्ता ने इस परिवार का वर्गीकरण उच्च मध्य-वर्गीय किया है।[1] यह काफी भ्रामक है। तत्कालीन कुमाऊँनी समाज में

---

1. डॉ. (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी, मनोहर श्याम जोशी और उनका साहित्य (लघु शोध-प्रबन्ध), हिन्दी विभाग-गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, 1983

परिवार विशेष का वर्गीकरण आर्थिक कसौटी पर कसने के बाद ही किया जाता था। शादी-ब्याह पर आधारित पारिवारिक सम्बन्ध तथा पुरखों की प्रतिष्ठा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। अल्मोड़ा में बसे प्रमुख ब्राह्मण खाते-पीते मध्य वर्गीय लोग थे उनको उच्च मध्य वर्ग, मध्य-वर्ग या निम्न मध्य वर्ग में मापना सार्थक नहीं। कमोवेश यह कहा जा सकता है कि गैर हाजिर जमींदार शहरी ब्राह्मण ही मध्य वर्गीय शिक्षित सुसंस्कृत थे और सम्मानित भी। गांवों में रहने वाले अपेक्षाकृत विपन्न ब्राह्मण (छोटी धोती वाले अधिकतर) इस श्रेणी में नहीं आते थे। वे कमोवेश गांव में रहने वाले क्षत्रिय 'जिमदार' (जिम्मेदार) आसामियों की तरह उसी परिवेश में ही पले पुसे होते थे। शायद 'लम्बी धोती' वाले अपने को इसी लिए श्रेष्ठ समझते थे कि उन्हें खेतों में जीविकोपार्जन के लिए आर्थिक श्रम नहीं करना पड़ता था और न ही गांव की कच्ची कीचड़ सनी पगडंडियों पर चलना पड़ता था। इस सब के बाद ही यह बात दोहराना जरूरी है कि कुमाऊं में वर्ग विभाजन उस तरह नहीं था जिस तरह मैदानों में या बड़े शहरों में। औपनिवेशिक शासन के हस्तक्षेप के कारण और पश्चिमी तरीके के आधुनिकीकरण, नगरीकरण और आर्थिक जीवन में पूंजीवादी प्रवृत्ति के आर्विभाव के साथ हो चुका था। इस विषय का अच्छा विवेचन 'सोसल-स्टैटिफिकेशन' इन कुमाऊं नामक अपनी पुस्तक में श्री आर॰डी॰ सनवाल ने किया है।[2] इनमें से कुछ बातों का उल्लेख एटकिंसन ने अपने प्रसिद्ध हिमालयन गेजेटियर में भी किया है।[3] पर चूंकि उस ग्रंथ का संकलन 19वीं

2॰ आर॰डी॰ सनवाल, 'सोसल स्टैटिफिकेशन इन कुमाऊं', नई दिल्ली-

3॰ ए एटकिंसन-: हिमालयन गेजेटियर कौसमो नई दिल्ली द्वारा पुनर्निर्मित, खण्ड दो भाग-1

शताब्दी के अन्तिम वर्षों में किया गया था। मनोहर श्याम जोशी के संदर्भ में सनवाल की समाज शास्त्री टिप्पणियां ही ज्यादा सटीक हैं।

यह बात निर्विवाद है कि कुमाउं के इतिहास में जोशियों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है पर सभी जोशी एक कुटुम्ब या कबीले के नहीं। औपचारिकता में शिष्टाचार वश सभी को दीवान राठ कहा जाता है क्योंकि कुमाऊंनी राजाओं के मुख्य मंत्री सलाहकार जोशी वंश के ही थे। पर इस बात की अनदेखी नहीं की जा सकती कि ये जोशी जिझाड़ के जोशी थे। जिझाड़ वाले जोशियों के अतिरिक्त, शेलाखोला, माला, दनिया, मैकेड़ी आदि के जोशी भी अपनी गिनती दीवानों में करते हैं किन्तु अभी हाल तक शादी ब्याह के मामलों में सामाजिक कुलीनता आर्थिक हैसियत से कही अधिक महत्वपूर्ण बनी हुई थी। जिझाड़ के जोशी वर्ग एक 'अ' अर्थात सालिस चौबीस कैरेट वाले माने जाते रहे हैं और गल्ली आदि के एक 'ब', बीस-बाइस कैरेट वाले। यहां इन सब बातों का इस लिस नहीं छेड़ा जा रहा है कि बाल की खाल निकालने वाले जातिवादी वर्ण भेद वाले पूर्वाग्रह की आधुनिक जीवन में कोई अहमियत है या होनी चाहिए बल्कि इसलिए कि लेखक का उसके पारिवारिक जनों, प्रसंसकों या सामाजिक यथार्थ से अनभिज्ञ आलोचकों शोध कर्त्ताओं का लेखक के ऊपर गैर जरूरी ढंग से कुलीन आभिजात्य आरोपित करना उसकी सामाजिक चेतना की तलाश से हमको पथ-भ्रष्ट कर सकता है। लगभग 'असाइड' के रूप में यहां श्री उपेन्द्र नाथ अश्क की अज्ञेय के बारे में की गई एक टिप्पणी उद्धृत की जा सकती है। अश्क ने लिखा है कि अपनी अलग साहित्यिक पहचान बनाने के लिए अपने लेखन को विशेष गरिमा से मंडित करने के लिए यह जरूरी था जालंधर के भनोट परिवार में सच्चिदानन्द हीरानन्द अपने पुरातत्व शास्त्री पिता

तक ही अपने पुरखों का याद रखें और 'अज्ञेय' बने रहें। यदि वस्तु निष्ठ ढंग से देखा जाय तो मनोहर श्याम जोशी जी अपने गुरू का अनुसरण करते नजर आते हैं।

अल्मोड़ा के अन्य ब्राह्मण परिवार सुशिक्षित, सुसंस्कृत या साहित्य कलानुरागी न रहे हों ऐसा नहीं था। जोशियों में ही बहुभाषाविद हेम-चन्द्र जोशी उनके उपन्यासकार अनुज इला चन्द्र जोशी और कवि सुमित्रा-नन्दन पंत साहित्य के क्षेत्र में मनोहर श्याम जोशी के जन्म काल तक अपना नाम अमर कर चुके थे। जिझाड़ के जोशियों में सबसे ज्यादा प्रतिभाशाली कामरेड पी॰सी॰ जोशी समझे जाते थे जिन्होंने इण्टरमीडिएट की परीक्षा में इतिहास में 'डिस्टंक्शन' प्राप्त किया था, नव-यौवन से ही भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के साथ जुड़े थे और बाद में उसके महासचिव भी रहे। अल्मोड़ा से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक 'शक्ति' अखबार में अपना विशिष्ठ राष्ट्रवादी पहचान बना ली थी और इसके संपादक बद्री दत्त पाण्डे 'एडिटर' साहब के नाम से मशहूर थे क्योंकि वे इलाहाबाद से निकलने वाले 'लीडर' दैनिक के सहायक संपादक रहे थे। उन्होंने 1921 में बेगार प्रथा के उन्मूलन के लिए बड़े जीवट के साथ संघर्ष किया था और वे कुमाऊँ के 'शेर' के नाम से मसहूर थे।[4] इन सब व्यक्तियों का उल्लेख यहां इस लिए किया जाना जरूरी है कि मनोहर श्याम जोशी की पारिवारिक परंपरा का, उनकी विलक्षण प्रतिभा का सही ऐतिहासिक सन्दर्भ में मूल्यांकन किया जा सकता है। एक शोध कर्ता ने जोशी जी को

4॰ डॉ॰ हीरा सिंह भाकुनी, 'संग्रामियों के सरताज' पं॰ बदरीदत्त पाण्डे, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 1989

DISS
Q,152,3,N335;9(Y)
152No;1

बहु पठित और विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न 'क्लासिक' कृतियों के लेखक के रूप में प्रस्तुत किया है। पराक्रम से अभिभूत प्रशंसक या शिष्य भाव रखने वाला निश्चय ही लेखक की सामाजिक चेतना के गुण रूप इसके बहुत सारे आयामों से परिचित नहीं हो सकता। पत्रकारिता के अनुभव से प्राप्त 'जीवन की सहज गंध हो देश विदेश के अधुनातन साहित्य के अध्ययन से प्राप्त नव्य दृष्टि या अपने प्रतिभा से अर्जित विलक्षण कथा विधान' यह सभी सामाजिक चेतना को सूक्ति अनुकूलित करते है या पाठक को चमत्कार द्वारा विस्मित स्तम्भित भर करने के उपकरण अनायास या सुनियोजित इस प्रश्न को अधिक टाला नहीं जा सकता।

यह बात जोशी के उपन्यासों को पढ़ना शुरू करने से पहले साफ कर देना परमावश्यक है कि जोशी जी अनूठा अपवाद-जीनियस हैं या किसी परम्परा के सदस्य उसके पुरोधा या विरोधी। उन्होंने क्या कुछ इस राह पर अपने से पहले चलने वालों से साभार या स्वेच्छानुसार ग्रहण किया है?

कुमाऊँनी/ पारिवारिक परिवेश के बारे में और कुछ सरलीकरणों सतही निष्कर्षों से बचना जरूरी है। यह सच है कि जोशी जी के जन्म के तीन दशक पहले स्वामी विवेकानन्द अल्मोड़ा पहुंच चुके थे यहां के निवासियों को अपने तेजस्विता और विद्वता से प्रभावित कर चुके थे। दुर्गम पहाड़ी अंचल में रहने वालों की सुप्त चेतना को परिव्राजक सत्य देव या नारायण स्वामी जैसे आर्य समाजी भी जाग्रत करने का प्रयत्न कर रहे थे।[5]

---

5. विस्तार के लिए देखें— डॉ. अवनीन्द्र कुमार जोशी : उत्तराखण्ड के सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण में आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन का योगदान।

TH-5334

जब जोशी जी किशोर ही थे तभी उदय शंकर अपने अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना अल्मोड़ा में करने का प्रयत्न कर रहे थे। गांधी जी कौसानी में गीता पर अनाशक्ति योग नामक अपनी टीका लिख रहे थे और पढ़े लिखे अल्मोड़ा वासी ब्राह्मण परिवार इस सारी बौद्धिक हलचल से अछूते नहीं रहे थे। साथ ही इस बात को जोर देकर रेखांकित किया जाना आवश्यक है कि मनोहर श्याम जोशी जी का परिवार अल्मोड़ा निवासी नहीं था उनके पिता प्रवासी कुमाऊँनी ब्राह्मण थे वे अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद अजमेर मारवाड़ा के शिक्षा विभाग में नियुक्त हुए थे। परिवार साथ ले गये थे और मनोहर श्याम जोशी जी का जन्म अजमेर में ही हुआ था। अधिक से अधिक गर्मियों की छुट्टियों में वे अल्मोड़ा आते थे।[6]

साधन सम्पन्न होने पर भी रेल और मोटर की यात्रा बहुत कष्ट-प्रद थी और अल्मोड़ा की सांस्कृतिक-राजनैतिक सरगर्मियां और सामाजिक हलचल ने मनोहर श्याम जी के पिता प्रेम बल्लभ जी को उद्वेजित किया हो इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। स्वयं वे राजस्थान की मरूभूमि में अदभुत प्रतिभा सम्पन्न कुमाऊँनी ब्राह्मण के रूप में प्रतिष्ठित थे इसमें सन्देह नहीं पर स्वयं कुमाऊँनी परिवेश में इस परिवार की उपस्थिति महसूस की जाती रही है ऐसा कहना गलत होगा। इसी तरह यह दावा करना कि राय साहब प्रेम बल्लभ जोशी शिक्षाविद थे संगीत कला के पारखी थे इसी लिए

---

6. पारिवारिक सम्बन्धियों व मित्रों से प्राप्त जानकारी पर आधारित

यह सब बातें जोशी जी को घुट्टी में मिली हैं शतशः सत्य नहीं कहा जा सकता। शास्त्रार्थ में विपक्षी को चित्त करने के लिए जोशी जी स्वयं भले ही जन्म जात 'जीनियस' और अपने को वर्ग कुंठाओं-सीमाओं से मुक्त, कुलीनता से प्राप्त सभी सुविधाओं सम्पदाओं से समृद्ध व्यक्ति/ लेखक की मुद्रा ओढ़ते हों इसे यथोक्त बिना किसी प्रश्न चिन्ह के स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है लेखक की सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में। अभाव ग्रस्त जीवन यापन के बाद, इस कारण वर्ग संघर्ष की बात करना या जाति प्रथा को नकारना एक बात है और किसी नाटकीय मर्मस्पर्शी अनुभव के बाद अपनी पैतृक कुलीन परम्परा को नकारना और 'द क्लास' होना बिल्कुल दूसरी। प्रेम बल्लभ जी शिक्षाविद् या शिक्षा शास्त्री नहीं बल्कि अध्यापक-प्रशासक थे। शिक्षा विभाग के अफसर। अजमेर में अंग्रेजों की 'चीफ एजेंसी' का मुख्यालय था और शिक्षा का प्रसार राजस्थान के अन्य रजवाड़ों रियासतों के बहुत पहले हो चुका था। विद्वानों का आदर होता था और प्रतिभा का अपेक्षाकृत समुचित मूल्यांकन। यह कहना धृष्टता होगी और प्रेम बल्लभ जी के साथ कि उनकी स्थिति मरू-भूमि में एरण्ड वृक्ष के समान थी पर इस व्यक्ति को लेखक पुत्र को प्रभा मण्डल से भूषित करने के लिए काल्पनिक रूप से प्रस्तुत करना कतई आवश्यक नहीं।

इसी तरह प्रेम बल्लभ जी के अधिकांश समकालीन यह बात को स्वीकार करते हैं कि वे रसिक थे और संगीत प्रेमी पर उन्हें भातखंडे के समकक्ष रखना या अब तक अंजान अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न सितारवादक बतलाना गैर जरूरी है। उन्हें राय साहब की उपाधि अंग्रेजों की सेवा, योग्यता, कौशल और स्वामि- भक्ति के साथ करने के लिए ही दी गयी थी। साहित्य कला

या समाज सेवा के क्षेत्र में किसी उल्लेखनीय योगदान के लिए नहीं। अनेक साक्षात कर्ताओं, शोध छात्रों ने बिना किसी वास्तविक शोध के यह बात स्वीकार कर ली है कि जोशी जी की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा छोटी पब्लिक स्कूल वाले ढर्रे में हुई थी और वे जरूरत पड़ने पर अपना काम चलाने निकालने के लिए 'आक्सोनियन एक्सेन्ट' में अंग्रेजी बोल सकते थे। एक शोध कर्ता को उन्होंने स्वयं यह बताया कि भारतीय सूचना सेवा में उनकी नियुक्ति सिर्फ हुई ही इस कारण थी कि उन्होंने पब्लिक सर्विस कमीशन के इंटरव्यू में हसन जहीर को इसी पैतरे से ध्वस्त किया था।[7]

जरूरत यह समझने की है कि लेखक का स्वाभाविक 'एक्सेंट आक्सोनियन' नहीं बल्कि अफसरवादी ढंग से ओढ़ा हुआ है। जोशी के पिता श्री का निधन उनके शैशव में ही हो गया था और वे पद या साधनों का लाभ उठा कर लम्बे समय तक पब्लिक स्कूल में नहीं रह पाये। प्रामाणिक ढंग से यह नहीं कहा जा सकता कि अजमेर के प्रतिष्ठित मियो कालेज में मनोहर श्याम जोशी का नाम लिखाया गया या वे यहां कितने लम्बे समय तक रहे? इसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पड़ सकता है। हां बहुत बचपन में मेयो कालेज के छात्रों के साथ उठना-बैठना, खेलना-कूदना जरूर हुआ होगा। यह निष्कर्ष जरूर निकाला जा सकता है कि दुर्भाग्यवश पिता के निधन के बाद अभावग्रस्त वंचित किशोरावस्था में उन्हें यह लगता रहा होगा कि अपने जन्म-जात अधिकार से उन्हें वंचित होना पड़ा है। अपने से अधिक सम्पन्न संवयस्कों के प्रति प्रतिद्वन्दिता, प्रतिस्पर्धा के भाव ने उनकी प्रतिभा को धार्मिक और

---

7. डॉ. (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी, मनोहर श्याम जोशी और उनका साहित्य (लघु शोध प्रबन्ध), हिन्दी विभाग- गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, 1983.

आक्रामक बनाया। सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में यह और जोड़ा जा सकता है कि उसका स्वरूप मूलत: आक्रामक रहा। पर यह सरलीकरण नहीं किया जा सकता कि यह आक्रामक तेवर समाज सुधारक या क्रान्तिकारी में कहीं न कहीं उससे लोगों को प्रभावित कर अपने अनुकूल करने आगे बढ़ने का भाव निरन्तर देखा जा सकता है। यदि इसके लिए चमत्कार जरूरी हो या कोई सहज सार्टकट नजर आता हो तो उसे अपनाया जा सकता है। ऐसा करना गलत नहीं। इस बात को उठाना फिर जोशी जी को दुर्बल या अक्सरवादी दर्शाने के लिए नहीं पर यह बात महत्वपूर्ण है यह समझने के लिए कि सामाजिक चेतना सम्पन्न व्यक्ति किशोर, युवा लेखक किस राजनैतिक विचारधारा से जुड़ता है, कब और कैसे उसका मोह भंग इससे होता है और उसके बाद कौन सा नजरिया वह अपनाता है, किस तरह का रूपान्तरण उसकी सामाजिक चेतना का होता है।

आर्थिक अभाव के कारण लखनऊ विश्वविद्यालय में जोशी जी का जीवन कष्ट में बीता। साधन सम्पन्न प्रतिभाशाली पहाड़ी युवक आगे की पढ़ाई के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय भेजे जाते थे और 'मेयो हॉस्टल' में भेजे जाते थे। जो ऐसा करने में असमर्थ होते थे वे ही अन्यत्र कहीं जाते थे। डाक्टर-इंजीनियर बनने की सोचने वाले स्नातक स्तर तक की शिक्षा और प्रतिस्पर्धाओं की तैयारी इलाहाबाद में ही करते थे वहीं इस सबका प्रवेश द्वार था। जोशी जी लखनऊ में रहे तो शायद इसी कारण, पारिवारिक सम्बन्धों के कारण लखनऊ में रहना सहज था। पचास के दशक के प्रारंभिक वर्षों में लखनऊ विश्वविद्यालय की वह दुर्दशा नहीं हुई थी जो आज देखने को मिलती है। वह एक स्तरीय शिक्षा संस्थान था। राधा कमल -

मुखर्जी और बीरबल साहनी जैसे लोगों का नाम इस विश्वविद्यालय के साथ जुड़ा हुआ था। 'अंडर-ग्रेजुवेट' मनोहर श्याम जोशी को अपनी प्रतिभा विकसित करने का, उससे लोगों को प्रभावित करने का प्रचुर अवसर यहाँ मिला होगा। पर यहाँ भी लखनऊ के पुराने वाशिंदों के वंशजों की रईसी का दबदबा था और लखनऊ की लफाजत-नफासत, बौद्धिक हाजिर जवाबी का रसा-स्वादन करने वालों में उनकी उपस्थिति दरबारी नवरत्न जैसी हो सकती थी। उनके सहपाठियों में मुख्यमंत्री गोविन्द बल्लभ पंत के पुत्र श्री कृष्ण चन्द्र पंत और अल्मोड़ा के नाम-विरामी वकील वसन्त बल्लभ जी के पुत्र श्याम सुन्दर पंत थे। प्रवासी कुमाऊँनी परिवारों के कुल दीपक अपनी छाप लखनऊ के विद्यार्थी वर्ग पर छोड़ रहे थे। ये निपट मूर्ख नहीं थे और साधन संपन्न भी। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि श्री कृष्ण चन्द्र पंत को हर बार प्रथम श्रेणी सिर्फ सिफारिस से मिलती थी और सिर्फ इसी कारण उनका चयन 'रंजी ट्राफी' की "क्रिकेट टीम' में हुआ था। चान्सलर का मेडल विश्वविद्यालय में सर्वश्रेष्ठ बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण भले ही सोच समझ कर दिया गया हो इसी तरह बाद में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त 'न्यूरोलोजिस्ट' बनने वाले श्याम सुन्दर पंत 'गॉजिग' के लिए मसहूर थे, वाड्रिया 'विलियर्ड्स' खेलते थे और पी॰एम॰टी॰ में भी सफल रहे। इन सहपाठियों का जिक्र इस लिए जरूरी है कि 'बाक्सिंग' में जोशी जी द्वारा कलर लिया जाना या कल के वैज्ञानिक जैसी किसी प्रतियोगिता में नामजद होना जैसी उपलब्धियों का यथार्थवादी ढंग से मूल्यांकन किया जा सकता है।[8] बिना

8॰ परिचितों से प्राप्त साक्षात्कार एवं स्कूल की, विश्वविद्यालय की स्मारिकाओं पर आधारित॰

अभिभूत हुए निष्पक्ष ढंग से शोध करने वाला यही कह सकता है कि यह बात स्वयं सिद्ध नहीं कि मनोहर श्याम जोशी यदि विलक्षण उपन्यासकार नहीं होते तो बहुत बड़े जीनियस किस्म के वैज्ञानिक होते। उनके पूर्ववर्ती लखनऊ विश्वविद्यालय के छात्रों में बल्कि कुमाऊँनी ब्राह्मणों में अनेक ऐसे थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा की छाप विश्वविद्यालय पर छोड़ी और आज भी याद किये जाते हैं। बीरबल साहनी के शिष्य दयानन्द पंत और राधा कमल मुखर्जी की संगति के मार्ग दर्शन में ज्ञान प्राप्त करने वाले आर्थिक समाज शास्त्री पूरन चन्द्र जोशी।

पारिवारिक कारणों से मनोहर श्याम जोशी को पढ़ाई बी॰एस॰सी॰ के बाद ही छोड़ देनी पड़ी और अल्मोड़ा के पास एक छोटे कस्बे के एक स्कूल में, नौकरी करनी पड़ी जो मान्यता प्राप्त तक नहीं था। मुक्तेश्वर में आज भी लगभग चार दशक बीतने के बाद पुराने लोग मनोहर श्याम जोशी को याद करते हैं। पर एक ऐसे 'बोहीमियन' के रूप में जो लोगों को अपने प्रकाण्ड ज्ञान से, खातिर जवाबी से ध्वस्त करने के लिए उतावला रहता था और अपनी 'अनकन्वेंशनल' जीवन-यापन शैली के लिए अविस्मरणीय बना था। प्रगतिशीलता या सहानुभूति पूर्ण सामाजिक चैतन्य का कोई परिचय उन्होंने साल डेढ़ साल के अपने इस कार्य काल में नहीं किया। यदि किशोर मनोहर वही था जिसका बीज 'कसप' के नायक में मिलता है, उसने निश्चय ही अपने असली स्वरूप को मिलने-जुलने वालों से बहुत जतन से बचा कर रखा। इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना इस लिए ज़रूरी है कि मुक्तेश्वर के इसी स्कूल में जोशी जी के सहयोगियों में मोहन उप्रेती के अनुज धीरेन्द्र उप्रेती भी अध्यापन कर रहे थे। ये लोग ﴾ गिरीश चन्द्र पंत

तथा कुछ अन्य युवा मित्र) इप्टा में सक्रिय थे और समय-समय पर अल्मोड़ा से लोक नृतकों, नाटककारों की टोलियां लाते थे। बड़े बूढ़े ही नहीं आज के प्रौढ़ भी उन स्मृतियों को सजोये हुए हैं। जब जनवादी लोक नाट्य मंच के प्रदर्शनों ने 'एक नया संसार बसायेंगे हम धरती के लाल नया इन्सान बनायेंगे' के जोशीले स्वर से छोटे से मुक्तेश्वर को गुंजा दिया था।[1] जोशी जी रहते तो इसी टोली के साथ थे पर उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा का स्फुरण अभी नहीं हुआ था। यह बात मजेदार इस लिए भी लगती है कि लगभग दस वर्ष बाद एक और प्रतिभाशाली कुमाऊँनी युवक ने पढ़ाना शुरू किया और बाद में हिन्दी में प्रतिष्ठित लेखक के रूप में हस्ताक्षर किये। इस किशोर ने भी आरम्भ में अदभुत प्रतिभा का प्रदर्शन किया, बाद में आर्थिक अभाव के कारण इलाहाबाद की पढ़ाई अधूरी छोड़ी पड़ी और 'कैरियर' का ग्राफ बहुत अस्वाभाविक हो गया, व्यक्ति का नाम है रमेश चन्द्र शाह। मुक्तेश्वर रहते हुए ही रमेश चन्द्र शाह ने समय का सदुपयोग किया आगरा विश्वविद्यालय से प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में अंग्रेजी में एम॰ए॰ किया, संस्कृत और बांग्ला भाषा सीखी और बहुत उत्साह के साथ आत्मोन्नति के साथ अपने निरीह-निर्धन छात्रों को आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। आज भी मुक्तेश्वर के आस-पास गांवों में अनेक ऐसे चरसी मिलते हैं जो कभी मैट्रिक पास नहीं कर पाये बहुत स्नेह और आदर के साथ अपने उन मास्टर साहब को याद करते हैं जो बिना चपत या सोंठी के 'मैथ्स' पढ़ाते थे, पढ़ाते ही नहीं थे उसे रोचक भी बनाते थे। मृदु भाषी हसमुख पर जिन्दा दिल रमेश चन्द्र शाह ने अपनी अमिट छाप मुक्तेश्वर वासियों पर छोड़ी। वे भी मनोहर

---

1. समकालीनों- मोहन उप्रेती, श्री देवीदत्त उपाध्याय, श्रीमती जयन्ती पंत, श्री नन्दन कर्नाटक आदि से प्राप्त जानकारी॰

श्याम जोशी की तरह थोड़े से वेतन का बड़ा हिस्सा विधवा मां को पठाते थे पर उन्हें मुक्तेश्वर वाले सभी कूपमंडूक नहीं लगते थे। उनका भरसक प्रयत्न तमाम सीमाओं के बावजूद इसी जगह साहित्य कला की कुछ छोटी सी क्यों न सही धारा बहाने, स्रोता ढूंढने का था। अपने विश्वासों मान्यताओं में उनकी दृढ़ आस्था थी और एक अन्तर्जातीय अन्तर्प्रेम के कारण उन्हें मुक्तेश्वर की नौकरी छोड़नी पड़ी। तब का यह 'स्कैंडल' गोबर गणेश के शान्तम वाले अध्याय में प्रतिबिम्बित और मुखर हुआ है। यहां यह तुलना इस लिए आवश्यक है कि जहां अपने सामाजिक चेतना, कायी जमे पोखर जैसे कस्बे मुक्तेश्वर के समाज में जुड़ने को रमेश चन्द्र शाह को प्रेरित कर रही थी वहीं वहीं जोशी जी कुलीन आभिजात्य अपेक्षाकृत बड़े शहर के प्रगतिशील तब्के में उठने-बैठने के बाद अपने को यथा संभव अलग-थलग ही रखे रहे। इसी में सहूलियत थी, बौद्धिक गरिमा और प्रभावशाली था। शाहजी ने इस अंतराल का सदुपयोग किया तो जोशी जी ने समय काटा। अंग्रेजी मुहावरे का प्रयोग करो तो कह सकते हैं ही वाज जस्ट बाईडिंग टाइम। [10]

रमेश चन्द्र शाह को ट्यूशन करने में कोई हिचक नहीं थी और न ही उनके कंधों पर पुरखों की रईसी का बोझ था या इस बात का एहसास कि उन्होंने बहुत कुछ देखा सुना है। सामाजिक चैतन्य ने उन्हें जागरूक बनाया था और जिज्ञासु जो चूंकि ग्रहण करने के लिए अपना दिल और दिमाग खुला रखता है और इसी लिए दूसरों को बहुत कुछ दे सकता है, करुणा और सहानुभूति ही नहीं अपनी बौद्धिकता के स्पर्श से लम्बे समय तक काम करने वाली विचारोत्तेजनक अपने उदाहरण से सम्पर्कों से नई दिशा और प्रेरणा भी।

---

10. श्री मनोहर श्याम जोशी तथा अन्य समकालीनों परिचितों से बातचीत पर आधारित.

मुक्तेश्वर सिर्फ इस प्राइवेट स्कूल का पर्याय ही नहीं और न ही मुक्तेश्वर की दुनियां इस स्कूल के गिर्द सिमटी हुई थी या है। मुक्तेश्वर मशहूर है एक अखिल भारतीय स्तर के वैज्ञानिक शोध संस्थान के कारण- 'इंडियन वेटनरी रिसर्च अंस्टीट्यूट'-जिसकी स्थापना 1870 में हुई थी। यहां नियुक्त वैज्ञानिक मद्रासी, बंगाली, पंजाबी सभी किस्म के लोग रहे हैं- सुशिक्षित और बाहर की दुनिया से परिचित। इनको सन्तुष्ट रखने का प्रबन्ध औपनिवेशिक शासक सायास करते रहे। अल्मोड़ा या नैनीताल के पहले मुक्तेश्वर में बिजली पहुंच चुकी थी और पुस्तकों अखबारों के मामले में अंस्टीट्यूट के पुस्तकालयों क्लबों की पहुंच बहुत अच्छी थी।[1] कठिनाई सिर्फ यह थी कि आजादी के बाद जिन भारतीय अफसरों ने अंग्रेजों को को विस्थापित किया था उन्होंने अंग्रेजों की औपनिवेशिक मानसिकता भी सामाजिक हैसियत आदि के बारे में स्वीकार कर ली थी। मसलन दो 'क्लब' थे एक अफसरों वाला जिसमें 'गोल्फ कोर्स' था, 'टेनिस कोर्ट', 'बिलियर्ड्स', 'बार' और पियानो आदि। देवदार के पेड़ों से घिरा बंगलानुमा। दूसरा 'रिक्रिएशन क्लब' था उन कर्मचारियों के लिए जो 'गजेटेड' अफसर नहीं थे। इसमें मनोरंजन के साधन थे केरम बोर्ड, टेबल टेनिस और ताश। स्कूल में पढ़ाने वाले अध्यापक बमुश्किल 'रिक्रेयेशन' सेन्टर तक पहुंचते थे। 'अंस्टीट्यूट' के अफसरों के परिवार के अनेक सदस्य भी शिक्षित कलात्मक रुचि वाले थे पर वे भी इस सामाजिक वर्गीकरण के दायरे के भीतर ही मिलते-जुलते, उठते-बैठते थे।

---

1. मुक्तेश्वर स्थित आर•बी•आर•आइ• द्वारा प्रकाशित स्मारिकाओं तथा उपरोक्त शोध संस्थान से संबद्ध कर्मचारियों, मनोहर श्याम जोशी के तत्कालीन सहयोगियों, समकालीन मुक्तेश्वर वासियों से प्राप्त जानकारी पर आधारित।

निश्चय ही यह स्थिति मनोहर श्याम जोशी जैसे संवेदनशील व्यक्ति के लिए असह्य रही होगी। 'सकल पदारथ या जगमाही' वाली बात उन्हें अपने ऊपर लागू होती लगती रही होगी। एक ओर वे अपने को कुलीन अभिजात वर्ग का सदस्य मानने के आदी थे और दूसरी ओर उन्हें अपनी वर्तमान सामाजिक हैसियत से समझोता करना पड़ रहा था। क्रान्तिकारी बनने का जोखिम बड़ा था और मन मार कर चुप रहना कुंठित ही बना सकता था। मनोहर श्याम जोशी जी के जीवनी के इस हिस्से पर अपेक्षाकृत विस्तार से प्रकाश डालना इसलिए परमावश्यक है क्योंकि उन्होंने अनेक साक्षात्कारों में विद्यार्थी जीवन से ही क्रान्तिकारी/ विरोधी के रूप में अपनी छवि प्रस्तुत की है। बी॰एस॰सी॰ में द्वितीय श्रेणी इसलिए आयी तिमाही परीक्षा का हड़ताल के कारण बहिष्कार किया था। बीस प्रतिशत नम्बर कट जाने से प्रयोगात्मक परीक्षा छूट जाने से भौतिक शास्त्र में प्रवेश नहीं मिला पढ़ाई में रुचि नहीं रही। ऐसा जान पड़ता है कि बाद में सुस्थिर हो जाने पर भी अंगूर खट्टे है वाली स्थिति लेखक की बनी रही। यदि अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूल में पढ़ाई नहीं हो सकती तो क्या फर्क पड़ता है? सारी परीक्षाओं में पर्चों के उत्तर तो शुरू से अंग्रेजी में ही दिये।[12] आज भी यदि अपनी स्कूली वाद-विवाद प्रतियोगिताओं निबंध प्रतियोगिताओं में प्रतिद्वन्दियों को बार-बार पछाड़ने का उल्लेख जोशी जी करते रहते है अश्क मेघ का छोड़ा छोड़ने वाली मुद्रा में तो इसका कारण यही समझा जा सकता है कि बाद के दौर में प्रतिभा या सामाजिक चैतन्य को प्रमाणित करने वाला कोई पराक्रम साधा ही नहीं जा सकता था।

12॰ डॉ॰ (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी, मनोहर श्याम जोशी और उनका साहित्य (लघु शोध-प्रबन्ध), हिन्दी विभाग- गोरखपुर विश्व-विद्यालय, गोरखपुर, 1983॰

यह सब कहने का उद्देश्य जोशी की विलक्षण प्रतिभा का अवमूल्यन नहीं बल्कि यह दिखाना है कि जन्म जात प्रतिभा का धनी व्यक्ति भी परिस्थितियां अनुकूल न होने पर क्षणिक रूप से ही सही समझौते कर सकता है या बेचैन बेबस 'सुअवसर' की प्रतीक्षा करता रह सकता है। यह दोनों ही बातें मनोहर श्याम जोशी जी के उपन्यासकार के रूप में विश्लेषण के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। आर्थिक सुरक्षा और साहित्यिक प्रतिष्ठा (पत्रकार के रूप में) पा लेने के बाद ही मनोहर श्याम जोशी उपन्यास लिखने का साहस जुटा पाये जहां पाठक आलोचक नैरेटर के रूप में लेखक को पहचानने लगें तो कुछ फर्क नहीं पड़ता। यहां वह नायक को मनोहर और जोशी एक साथ पुकार सकते हैं, अभाव और संघर्ष की कथा-व्यथा की परतें उखाड़ सकते हैं शायद कथारसिस के लिए यह जरूरी भी है। पर आज भी फिल्म स्क्रिप्ट लेखक, सीरियलों के सरजक्ट के रूप में जोशी जी पुश्तैनी रईस हैं और उस ऐश्वर्य का चर्चा बारंबार बिना आवश्यक सन्दर्भ के करते रहते हैं। इसका सबसे ताजा उदाहरण नवभारतटाइम्स 'इन्दु धनुष' में प्रकाशित साक्षातकार है।[13] समूह के हित के लिए अपने हितों की उपेक्षा का उतार-चढ़ाव निरन्तर उनके मन में था और चेतना को बार-बार दर्शाता है ऐसा मानना सहज नहीं। लखनऊ और दिल्ली में जीविकोपार्जन के लिए बहुत पापड़ बेलने पड़े। सिर्फ ऐसा नहीं था कि इनका युवा विद्रोही मन किसी काम में नहीं रमता था बल्कि यह भी था कि जोशी जी अपने को और यह ठीक भी था मास्टर, क्लर्क जैसे पद के योग्य नहीं समझते थे।

---

13. इन्द्र धनुष - नवभारत टाइम्स

इससे बेहतर किसी चीज की अपेक्षा उन्हें थी। उनके हम उम्र जो लोग डाक्टर इंजीनियर नहीं बने 'आइ॰ए॰एस' दे रहे थे पर 'कंपटीशन' की तैयारी करने के लिए पारिवारिक बोझ से मुक्त होना जरूरी था। बीतते समय के साथ जोशी जी को इस बात का एहसास होने लगा था कि 'इन्टलेक्चुवल' बनने के क्रम में 'मैने अच्छे कैरियर की सारी संभावनायें चौपट कर डाली और विधवा मां के जीवन को और भी दुखी बना दिया।' उनके बड़े भाई दुर्गादत्त पहले से ही 'बोहिमियन' की सी जिन्दगी जी रहे थे और एक घर में दो 'बोहेमीयनों' की गुंजाइश नहीं थी।[14] स्वयं जोशी जी के पिताजी ने काफी विलासिता पूर्ण जीवन यापन किया था और मुक्त हस्त से खर्च किया। सुरापान का व्यसन उन्हें था और इसी कारण उनके जीवन काल में भी परिवार को कष्ट भोगने पड़े थे। जैसा उल्लेख किया जा चुका है बहुत बड़े सरकारी अफसर आइ॰सी॰एस॰, पी॰सी॰एस॰ छाप वे नहीं थे और न ही ऐसे बड़े सफल सर्जन सफल वकील थे जो दोनों हाथ उलीचिये वाली सीख के अनुसार आचरण करने के बाद भी अपने परिवार की तमाम जरूरतों को पूरा कर सकते हो। उनका निधन 'कौड़ी में रख कपन को' वाले अंदाज हुआ था और यहीं यह बात स्पष्ट होगी कि क्योंकि जोशी जी का दावा कि वे उच्च मध्यवर्गीय परिवार के प्रतिनिधि हैं गलत है। समृद्ध सम्पन्न परिवार में संयुक्त परिवार की परंपरा में सिर्फ एक व्यक्ति के न रहने से सारा जीवन तहस नहस हर सदस्य का नहीं हो जाता। स्वाभिमान और अहंकार औरों के सामने हाथ फैलाने से भले ही रोके पर खुद अपनी विरासत का उपभोग- उपयोग करने से कौन किसे रोक सकता है?

---

14. डॉ॰ (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी, मनोहर श्याम जोशी और उनका साहित्य (लघु शोध-प्रबन्ध), हिन्दी विभाग- गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, 1983.

एक बार फिर जोर देकर यह बात कहने की जरूरत है कि परिवार के गड़े-मुर्दों का उखाड़ना सिर्फ इस लिए जरूरी है कि लेखक की ईमानदारी, सामाजिक चरित्र, चेतना, वर्गीय सहानुभूति आदि आपस में अभिन्न रूप से घुले-मिले रहते हैं। इनसे साक्षात्कार तब तक नहीं हो सकता जब हम लेखक द्वारा अपने गिर्द फैलाये महिमामय वातावरण को न भेदें-आवरण को न हटायें। एक शोध कर्ता ने यह टिप्पणी की है कि बेकारी के इस दौर में भी जोशी जी का जीवन के विस्तारता को बोध हुआ और यह भय या बोझ उनके मनोविज्ञान की कुंजी है। बेकारी के इस आलम में ही जोशी जी ने पठन-पाठन किया उन्होंने विविध विषयों का बहुत मनोयोग के साथ पारायण अध्ययन आरम्भ किया।[15] पारायण शब्द यहा बहुत ठीक नहीं लगता क्योंकि यदि जोशी जी विलक्षण प्रतिभा के धनी हैं और पारिवारिक परिवेश अनुकूल थे तो यह मानना कठिन है कि अब तक उन्होंने युद्ध और शान्ति और राम चरित मानस नहीं पढ़े थे। जोशी जी ने इन्हीं दिनों के सन्दर्भ में अपने एक चचेरे भाई श्री पूरन चन्द्र जी के प्रति आभार व्यक्त किया है जिन्होंने उनके अध्ययन को दिशा दी। यह भी विनय की ओढ़ी हुई मुद्रा ही लगती है। क्योंकि ऐसा मानने का कोई कारण नहीं कि अपनी खुद की स्वीकारोक्ति के अनुसार हर सभा गोष्ठी में बुजुर्गों के मुंह लग अपनी पहचान बनाने वाले तेजस्वी युवक का हृदय परिवर्तन एकाएक इतनी जल्दी अनायास हो गया था। नौकरी की तलाश और अनुभव संसार बढ़ाने जोशी जी दिल्ली पहुंचे यह वर्ष जीवन संघर्ष के थे पर इस दौर में भी संपर्कों

---

15. डॉ. (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी, मनोहर श्याम जोशी और उनका साहित्य (लघु शोध-प्रबन्ध), हिन्दी विभाग- गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, 1983.

का लाभ उठाने, सिफारिश को भुनाने में कोई हिचकिचाहट जोशी जी को अपनी सामाजिक चेतना के कारण नहीं हुई शायद इसका कारण यह रहा हो कि वे अपने को औरों से योग्य और हर विज्ञापित पद के लिए उपर्युक्त सबसे सही समझते रहे हों। फिरोज गांधी के पास वे जगन्नाथ राव का पत्र लेकर गये और ऐसा ही एक खत लेकर हिन्दुस्तान टाइम्स के संपादक दुर्गादास के पास गये।[16] किसी भी साक्षात्कार में जोशी जी ने यह रहस्य उद्घाटित नहीं किया कि तेलंगाना में कम्युनिस्टों का दमन करने वाली सरकार की नौकरी को वे किस आधार पर वे अमरीकी सूचना विभाग की नौकरी से श्रेष्ठ समझते थे? अज्ञेय जी से उन्हें मिलवाया रघुवीर सहाय ने पर स्वभाव में, रुझान में कुलीनता के दावे से लेकर चमत्कारी प्रयोगों के प्रति आकर्षण तक वे बहुत शीघ्र अज्ञेय जी के प्रिय पात्र और प्रिय शिष्य बन गये। (यह सर्व विदित है कि यदि वे साप्ताहिक हिन्दुस्तान के संपादक नहीं होते तो दिनमान में अज्ञेय जी के बाद शायद वे ही उनके उत्तराधिकारी होते। रघुवीर, सर्वेश्वर श्रीकान्त आदि के लिए तब भी कवि के रूप में अपनी भूमिका महत्वपूर्ण थी। जोशी जी के लिए तब तक ऐसी कोई विवशता नहीं थी। उनका सारा समय पत्रकारिता के नाम था और विश्व कोशीय ज्ञान की जो झलकियाँ वे पेश करते रहते थे उनसे भी उनकी संपादकीय योग्यता प्रदर्शित होती रहती थी।)[17]

---

16. डॉ. (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी, मनोहर श्याम जोशी और उनका साहित्य (लघु शोध - प्रबन्ध), हिन्दी विभाग— गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, 1983. तथा
    श्री मनोहर श्याम जोशी जी के साथ संस्मरणात्मक वार्तालाप पर आधारित
17. दिनमान के सहयोगियों, सहकर्मियों तत्कालीन लेखकों से प्राप्त जानकारी पर आधारित.

दिल्ली की मुफ्लिसी और दिल्ली में सामाजिक सुरक्षा, माली हालत में सुधार के बीच जोशी जी ने कुछ महत्वपूर्ण वर्ष बम्बई में बिताये। अनेक साक्षात्कारों में और अपने प्रकाशित संस्मरणों में जोशी जी ने 'क्लास वन अखिल भारतीय सेवा में सदस्यता' की बात दोहराई है। पर यह बात नहीं भुलाई जा सकती कि फिल्म्स डिविजन में स्क्रिप्ट राइटर की नौकरी का वेतनमान चाहे कुछ भी हो वह दूसरे दर्जे की प्रतिष्ठित सरकारी नौकरी- डिप्टी कलेक्टरी जैसी नहीं। यह नौकरी मिलने का अर्थ घर या वाहन की सुविधा नहीं था। बम्बई में इन दोनों का अभाव था और आगे बढ़ने ऊपर उठने के बावजूद आगे बढ़ने के बाद भी जोशी जी बम्बई में सुविधा सम्पन्न समर्थ नहीं थे। बासु चटर्जी, ऋषिकेश मुखर्जी आदि इनके साथ उठते-बैठते थे। विज्ञापनों की दुनियां में इनका परिचय बढ़ा पर विलासिता पूर्ण ढंग से खर्च कर सकने वालों की संगत ने उन्हें निरन्तर कचोटा ही होगा। असमर्थता और असहायता के भाव में एक बार फिर शायद इस बात का एहसास कराया कि वह सामाजिक चेतना किसी काम की नहीं जो सिर्फ अनुकूल परिस्थितियों में प्रभावशाली क्रान्तिकारी तेवरों को पुष्ट करे। अपने मन को सुस्थिर रखने के लिए भविष्य के प्रति आशावान रहने के लिए शायद यह जरूरी था कि सामाजिक चेतना चुस्त फिकरेबाजी वायवीय राजनैतिक बहसों के स्थान पर रचनात्मक प्रतिभा के रूप में पल्लवित हो।

वास्तविकता तो यह जान पड़ती है जोशी जी ने लेखक उपन्यासकार बनने का निर्णय इसी घड़ी लिया- तब नहीं जब किशोरावस्था में वैज्ञानिक बनने या लेखक का द्वन्द अपने मन में वे बतलाते हैं। इसी लिए बम्बई छोड़कर दिल्ली आने का निर्णय उन्होंने किया। ईमानदारी का तकाजा यह भी

है कि यहीं इस शंका को भी प्रकट किया जाय कि इस बार भी सरकारी नौकरी का त्याग फिल्मों, विज्ञापनों में लाखों की कमाई सिर्फ साहित्य प्रेम या सर्जनात्मक दबाव के कारण नहीं था। बम्बई का महानगरीय जीवन- जोशी जी को रास नहीं आयी और न ही आज रास आती है। हर प्रवासी कुमाऊँनी की तरह मनोहर श्याम जोशी जी का मन भी और पहाड़ियों के आस-पास कुमाऊँ के निकट रहने को छटपटाता रहता है।[18] इसी समय उनके विवाह की बात भी चल रही थी भावी पत्नी दिल्ली में नौकरी कर रही थी और तिहरे व्यवहारिक सांसारिक कारणों से भी दिल्ली आना श्रेयष्कर था।

जोशी जी को आत्मीय ढंग से जानने वाले इस बात से अनभिज्ञ नहीं कि जोशी जी एक ही बार में प्रतिद्वन्दी को चित्त करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं लम्बे समय तक चलने वाली गलाकाट प्रतिस्पर्धा का माद्दा उनमें नहीं। यह सच था कि बम्बई में बहुत सारे मूर्ख धन कुबेर थे और बहुत सारे पाखंडी, अज्ञानी विद्वान बने फिरते थे। पर यह भी उतना ही सच था कि जोशी जैसे ही अनेक मधावी जुझारू क्रान्तिकारी साहित्य कला- नुरागी अपनी जगह बनाने के लिए केकड़े की तरह एक दूसरे को धकिया रहे थे। कुरु कुरु स्वाहा में इस अनुभव का बहुत सजीव चित्रण हुआ है। इसके बारे में विस्तृत टिप्पणी का अवकाश यहां नहीं, पर तब भी यह जोड़ना

---

18. देखें पर्वतीय टाइम्स 1980-81 में डॉ. पी.सी जोशी के साथ मनोहर श्याम जोशी का पत्राचार, 'कसप' तथा 'कुरु कुरु स्वाहा' के अनेक अंश, अभी हाल तक उनके दिल्ली वाले घर में पहाड़ी होली की बैठक होती थी.

जरूरी है कि जिस तरह मुक्तेश्वर जोशी जी के लिए बहुत छोटी जगह साबित हुआ था उसी तरह बम्बई जरूरत से ज्यादा बड़ी जगह प्रमाणित हुआ।

दिल्ली आने के बाद जोशी जी इस स्थिति में थे कि अब तक अर्जित सारे ज्ञान अनुभवों का समुचित लेखकीय प्रयोग कर सकें। उन्हें यह जरूरत नहीं रह गयी थी कि निरन्तर आक्रामक मुद्रा हथिया कर लोगों को प्रभावित करें इस बीच एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ था। जोशी जी के विद्यार्थी जीवन से दो दशक बाद वाली पीढ़ी कही बेहतर ढंग से बाहरी संसार से परिचित थी। शिक्षा यातायात के साधनों ने यह स्थिति पैदा की थी। पेपर बैक पुस्तकों के माध्यम से संवेदनशील युवा पीढ़ी का एक बड़ा हिस्सा आधुनिकतम पश्चिमी साहित्य से परिचित था और काफ्का कामों जैसे नामों से परिचित होना कोई बड़ी उपलब्धि नहीं था। बहुत सारे प्रगतिशील व्यक्तियों का मोह भंग साम्यवादी विचारधारा से हो चुका था और अपनी अक्सरवादिता या समझोता परस्ती को लेकर अपराध बोध से ग्रस्त रहने की कोई मजबूरी नहीं थी। बल्कि पुराने कम्युनिस्टों उनके मित्रों के लिए नक्सलवादी आन्दोलन ने यह सहूलियत मुहिया करवायी थी कि वे एक और अपने को नेहरू के बाद के कांग्रेसियों की तुलना में क्रान्तिकारी सिद्ध कर सकें और दूसरी ओर नादान बच्चों की अपराध पूर्ण दुस्साहसिकता की तुलना में संयत संतुलित। यह बहस नेहरू के बाद और नक्स क्रान्ति के विस्फोट के बाद सिर्फ राजनैतिक पक्षदाता की नहीं बल्कि व्यापक बौद्धिक धरातल पर भी जंग सी छिड़ी हुई थी।

'पोप्युलिस्ट' नारों के सहारे आगे बढ़ने की रणनीति श्रीमती इंदिरा गांधी ने अपनाई बैंकों का राष्ट्रीयकरण, गरीबी उन्मूलन के लिए बीस सूत्री कार्यक्रम, शाही थैलियों और रजवाड़ों का उन्मूलन आदि नाटकीय पहलें इसी कार्यक्रम के अन्तर्गत सम्पन्न हुई। न यह आश्चर्य का विषय है या संयोग मात्र कि 'सिंडिकेट' के खिलाफ अपनी लड़ाई में श्रीमती गांधी को पुराने प्रगतिशील लेखकों और रचनाधारियों का समर्थन मिला। हरित क्रान्ति के पहले चरण की सफलता और बांग्ला देश मुक्ति अभियान श्रीमती गांधी ने असाधारण रूप से लोकप्रिय बनाया। परन्तु श्रीमती बांधी की परियोजनायें क्रान्ति का सूत्रपात करने वाली नहीं थी और बहुत शीघ्र आशा की किरणें धूमिल होने लगी। भारतीय समाज बहुविध संकटों से ग्रस्त हो गया।

1965 से 68 वाले दौर में भी कांग्रेस के वर्चस्व को चुनौती देने वाले गैर कांग्रेस की लहर उठी थी। असहमति का स्वर मुखर किया था डाक्टर राम मनोहर लोहिया ने और अनेक प्रदेशों में संविद सरकारों का गठन किया था। इन सरकारों के गठन ने भारतीय चुनावी राजनीति में शहर और गांव, केन्द्र व प्रदेश, के अन्तर्विरोध को रेखांकित करने के साथ-साथ जातीय ध्रुवीकरण को भी तेज किया था। भारतीय परिवेश में वर्ग संघर्ष और वर्ग संघर्ष में भेद करना बहुत ही कठिन है। इसी तरह समाज के सबसे विपन्न उत्पीड़ित शोषित तब्के प्रभावित होते हैं। मसलन देहातों में रहने वाले भूमिहीन पिछड़ी जातियों के व्यक्ति आदिवासी औरतें। इस भारतीय राजनैतिक सामाजिक परिदृश्य का अध्ययन अनेक समाज शास्त्रियों ने किया है कि जिनमें रंजीत कोठारी की पालिटिक्स इन इंडिया तथा दाण्डेकर एवं रथ की पार्टी इन इंडिया अत्यन्त महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय

है। यही वह दशक था 1965 से 75 वाला जिसमें भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का क्षय हुआ आन्तरिक क्षमता बढ़ी जनतांत्रिक मूल्यों का अवसान आरम्भ हुआ और असंवैधानिक प्रणालियां व्यवस्था का अनिवार्य हिस्सा बन गया। भ्रष्टाचार मानवीय मूल्यों का हनन भारतीय राजनीति के घटक बने।

साहित्य अपनी 'दर्पण प्रकृति' के अनुसार इस स्थिति को प्रतिबिम्बित करने लगा। मराठी का दलित साहित्य हो या कन्नड़ा-मलियालम, तमिल के उपन्यास कहानियां। महाश्वेता देवी, जयकान्तन, अनन्त मूर्ति कितने इतने नाम हैं जो अपने आस पास की जिन्दगी की असलियत उसमें घुलते जहर और सपने टूटने के दर्द से चिन्तित थे व्यथित इनकी रचनायें सिर्फ विलाप नहीं और न ही राजनैतिक नारेबाजी तक सीमित थी। और भाषाओं की बात तो जाने दीजिए स्वयं हिन्दी साम्प्रदायिकता के विष कलुष और सार्वजनिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार ने उपन्यासकारों को लेखनी उठाने के लिए विवश किया। राही मासूम रजा का आधा गांव हो या शिव प्रसाद सिंह का अलग-अलग वैतरणी, श्रीलाल शुक्ल का राग दरबारी हो या भीष्म साहनी का तमस इन सब का बुनियादी सरोकार इर्द - गिर्द की जिन्दगी से रहा है। गोबर गणेश का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। रमेश चन्द्र शाह को आम-तौर पर कला के लिए कला का पक्षधर रूपवादी रहस्यवादी रचनाकार माना जाता है पर इसमें भी 'गोपाल डूम है' वाले अध्याय में वर्ग जनित विषमता अमानवीयता का सहज गरिमा ढंग से उद्घाटित हुई है सिर्फ कलात्मक बौद्धिक रचनात्मक ढंग से नहीं। स्वयं जोशी जी के गुरू नागर जी ने अबहों नाचो बहुत गोपाल उपन्यास का ताना-बना मेहतरों के जिन्दगी के इर्द-गिर्द बुना है।

भारतीय सामाजिक राजनैतिक परिवेश में और इससे प्रभावित औपन्यासिक रचनात्मकता का सर्वेक्षण इसलिए आवश्यक है कि यह बात समझी जा सके कि जिस समय जोशी जी दिल्ली लौटे और गम्भीरता से उपन्यासकार के रूप में अपनी भूमिका तरासने का प्रयत्न कर रहे थे उस समय परिवेश कैसा था और उसने अपनी अलग जगह पहचान बनाने के लिए उन जैसे बुद्धिमान व्यक्ति को क्या कुछ करना था।

मनोहर श्याम जोशी जी की रचनाएं एवं उनके उपन्यास :-

मनोहर श्याम जोशी जी की प्रतिष्ठा हिन्दी जगत में एक प्रखर पत्रकार के रूप में है उपन्यासकार के रूप में उन्होंने ख्याति काफी देर से प्रौढ़ावस्था में अर्जित की और इस ख्याति के व्याप्त होन से पहले ही दूरदर्शन धारावाहिकों के सफल लेखक के रूप में वे खुद 'सेलेब्रेटी' बन गये। उनके उपन्यासों का वस्तु निष्ठ मूल्यांकन करना इसलिए कठिन हो जाता है लेखक की सामाजिक चेतना के विश्लेषण के लिए यह परमावश्यक है कि हम 'कुरु कुरु स्वाहा' और 'कसप' की कथावस्तु पर दृष्टिपात करने से पहले लेखक की अन्य रचनाओं पर दृष्टिपात करें और इस प्रश्न को सही संदर्भ में देखें-परखें।

मनोहर श्याम जोशी ने साहित्य की अनेक विधाओं में अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

कहानियां -

मनोहर श्याम जोशी कहानी को प्रमुख विधा नहीं मानते पर इन्होंने अपनी रचना यात्रा की शुरुआत कहानी से ही की थी। यह सही है कि संख्या में कम होने के बावजूद इनकी कहानियां हिन्दी कहानी जगत में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनका एक कहानी संग्रह "दुर्लभ व्यक्तित्व" बहुत पहले प्रकाशित हुआ था जो अब सचमुच दुर्लभ हो गया है पर इस संग्रह की अधिकांश कहानियों तथा कुछेक नई कहानियों को लेकर एक नया कहानी संग्रह "कैसे किस्सागो" 1983 में प्रकाशित हुआ कैसे किस्सागो की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन की आकांक्षा-उत्कण्ठा

छल छद्म, राग लोभ के साक्षात्कार के साथ दु:खी जीवन से उत्पन्न उदास हताश मानसिकता का मार्मिक दर्शन होता है।

व्यंग्य : नेताजी कहिन -

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में व्यग्य कालम के रूप में लिखे गये व्यंग्य लेखों का 1982 में राजकमल से ही प्रकाशित संग्रह है। नेता जी कहिन मूलत: "पत्रकारिता" ही है जिसमें व्यंग्य की दुधारी तलवार एक ओर तो संस्कार हीन चरित्र विहीन भारतीय राजनीति को अपना शिकार बनाती है दूसरी ओर उन लोगों को हताहत करती है जो नेताओं की संस्कारहीनता एवं चरित्रहीनता की आलोचना तक करते हैं पर स्वयं उनकी मदद पाने के लिए सदैव लालायित रहते हैं। विहारी नेताओं और मंत्रियों को व्यंग्य का लक्ष्य बनाती हुई यह पुस्तक वर्तमान भारतीय राजनीति के चरित्र को उद्घाटित करती है। भोजपुरी का अंग्रेजी मिश्रित नमूना और अंग्रेजी का भोजपुरी तर्ज पर प्रयोग इसकी शैली की विशेषता है जो कृति को रोचकता बनाती है। इस पर आधारित दूरदर्शन धारावाहिक कक्का जी कहिन बेहद लोकप्रिय हुआ है।

इण्टरव्यू : बातों-बातों में -

1983 में राजकमल से प्रकाशित इस पुस्तक में पत्रकार मनोहर श्याम जोशी द्वारा की गयी कुछ महत्वपूर्ण भेंट वार्ताओं का संग्रह है। इसमें साहित्यकार, राजनेता-अभिनेता, एयरचीफ मार्शल आदि विभिन्न किस्म के लोगों से हुई भेंट चर्चा है। मनोहर श्याम जोशी का पत्रकार एवं रचनाकार व्यक्तित्व इस प्रकार उपस्थित है इस कृति में कि दोनों

को अलग कर पाना संभव नहीं हो पाता। बातचीत में सिर्फ वही नहीं है जो सामने वाला बोल रहा है, बल्कि किस ढंग से बोल रहा है यह भी है। जोशी जी की सिनेमाई शैली देखने को मिलती है वह यहां भी देखी जा सकती है।

इनके अतिरिक्त जोशी जी ने चीन, रूस, मारिशस की यात्राओं का वृतान्त लिखा है जो अप्रकाशित है।

जोशी जी का पहला उपन्यास 'कुरु कुरु स्वाहा' है जिसमें समकालीन भारतीय मध्य वर्ग की कुंठाओं, भटकन, उसकी अभिजात नंगई और योन और योगाकर्षण के बीच फंसी हास्यास्पद स्थिति का सजीव चित्रण इसमें किया गया है। स्वयं लेखक ने इस कृति की तुलना एक फिल्म से की है जिसमें जमाने भर की बातें आधुनिकता के नाम पर ठूंसी गई हैं- एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के निहायत ही लचर जीवन के अति नाटकीय आत्ममंथन को इसमें जोड़ा गया है। अपने स्वभाव और शैली के अनुसार जोशी जी पाठक के साथ पहेलियां बुझाते रहते हैं यह चेतावनी देते कि उपन्यास के पात्र फिल्म निर्माता दादा के माध्यम से लेखक कोई भारी भरकम संदेश नहीं दे रहा और न ही कोई पेचीदा राजनैतिक, सामाजिक फलसफा अति-सरलीकरण द्वारा समझाया जा रहा है। महज एक सदय और समझदार बुजुर्ग की तरह कहा गया है 'रिल-मिल कर रहो, एक ही तिल हो तो मिल बाट कर खाओ, एक दूसरे को सताओ मत' विनम्र आत्म अवमूल्यन के साथ उपन्यास समाप्त होता है 'कोई कमी बेशी हुई हो किस्सा गोई में तो मुआफ करें।

वास्तव में 'कुरु कुरु स्वाहा' की कहानी बहुत सीधी सादी है। मनोहर नाम का युवक जो संवेदनशील रचनाकार है नौकरी की तलाश में बम्बई पहुंचता है और वहां अपनी प्रतिभा के बल पर कला विज्ञापन जगत की आकर्षक हस्तियों से मिलता है। उसकी नौकरी लग जाती है और वह पेइंग गैस्ट के रूप में कुछ अवकाश प्राप्त बूढ़ों के साथ उनके अनौपचारिक अभिभावकत्व में रहता है। महानगर में पहुंचने के बाद भी उसका कुमाऊंनी ब्राह्मण संस्कार और कस्बाती भावुकता उसके साथ बने रहते हैं। मनोहर की सबसे बड़ी खूबी यही है वह अपनी मानवीय गरिमा और करुणा को अवसरवादी आपाधापी में गंवाता नहीं। कथानक में यह बात स्पष्ट की गई है कि बम्बई पहुंचने के पहले ही लखनऊ के कॉफी हाउस में मार्क्सवादी प्रगतिशीलता का पाठ वह पढ़ चुका है पर अपने मार्क्सवादी झांसा देने वाले कामरेडों से मोह भंग हो जाने के बाद भी समाज में व्याप्त वर्ग-भेद के प्रति वह सचेत बना रहता है। बम्बई में मनोहर की भेंट एक रहस्य-मय महिला से होती है जिसके प्रति पाठक का आकर्षण प शारीरिक और आध्यात्मिक एक साथ है। कथानक कई अति-नाटकीय मोड़ लेता है घटना-क्रम यथार्थ और फैन्टेसी के बीच झूलता है और नायिका पहुंचेली के जरिये चन्द लम्हों के लिए ही सही मनोहर का प्रवेश सन्की तस्करों और उच्च वर्गीय खपती शिवा चन्द्रा जैसों की दुनियां में होता है। फिर अचानक जैसे नाटकीय ढंग से पहुंचेली ने प्रवेश किया था वैसे ही वह नायक से विदा ले लेती है और अपने संस्कारों - विरासत में प्राप्त कर्म कांड-की सहायता से पितृ ऋण मुक्त मनोहर बम्बई छोड़ दिल्ली में सफल होने के लिए कस पड़ता है।

अपने रचाव में यह कॉमेडी प्रभाव में त्रासदी ही कही जा सकती है और भाषा शिल्प के प्रयोग से पाठक को स्तब्ध कर देने वाली प्रवृत्ति के बावजूद महानगरीय परिवेश में मध्यवर्गीय जीवन से एक निर्मम मुठभेड के रूप में उसे स्वीकार करना कठिन नहीं। इसी कारण इस उपन्यास में लेखक

की सामाजिक चेतना ने महानगरों में मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बनाओं को ही व्यंगात्मक ढंग से आलोकित किया है।

लेखक के दूसरे उपन्यास 'कसप' का परिवेश बिल्कुल दूसरा है। इसका नायक मध्यवर्गीय घरेलू किस्म का प्रेमी है। इसमें और 'कुरु कुरु स्वाहा' में एक बुनियादी साम्य है। पहाड़ी बोली में 'कसप' का अर्थ है क्या पता, न मालूम, और 'कुरु कुरु स्वाहा' में पहुंचेली बार बार यह सवाल उठाती है 'एनो मिनिंग सून' इसका क्या मतलब?

लेखक ने स्वयं 'कसप' के ब्लर्ग में यह संकेत दिया है कि 'कुरु कुरु स्वाहा' के सारवत्त प्रश्न के उत्तर में 'कसप' को पेश किया जा सकता है। इस उपन्यास की कहानी भी संक्षेप में बहुत सीधी-सादी है। बगड़गांव का विपन्न बालक देवी दत्त अपने नव यौवन में एक समृद्ध परिवार की खिलंदड़, सिरचढ़ी लड़की के प्रेम में पड़ता है और जीवनपर्यन्त अल्मोड़ा से हॉलीवुड पहुंचने पर ही इससे मुक्त नहीं हो पाता। 'कुरु कुरु स्वाहा' की ही तरह इस उपन्यास के अन्तिम पन्ने में भी लेखक ने अपनी ओर से इस उपन्यास को समझाने की एक विनयी आत्मअवमूल्यनात्मक टिप्पणी जरूरी समझी है। यों सुधीजन स्वतंत्र हैं मेरे 'लोलिटा कॉम्प-लेक्स' को ही नहीं, सारी कहानी को अस्वीकार करते हुए 'ऐसा जो थोड़ी' कहने के लिए। एक लड़के और एकलड़की के प्रेम की पहले लिखी जा चुकी कहानी अपने ढंग से फिर लिख देने के लिए, वैसे ही जैसे मैंने यहां इस बंगले में अकेले बैठे-बैठे लिख दी है। जब तक हम एक-दूसरे के मुंह से यह कहानी सुनने को और 'ऐसा जो थोड़ी' कहकर फिर अपने ढंग से सुनाने को तैयार हैं तब तक प्रेम के भविष्य के बारे में कुछ आशावान रहा जा सकेगा।

'वसप' में भी 'कुरु कुरु स्वाहा' की तरह मध्यवर्गीय जीवन की अभावग्रस्त टीश को पैंडिताऊ परिहास में ढाल कर कॉमेडी और त्रासदी के संयोग से स्वप्न और स्मृतिभास के बीच समय को रोकने का सा प्रयत्न किया गया है। इस उपन्यास में भी लेखक की चिन्ता का केन्द्र मध्यवर्गीय गांव और कस्बे से शहर पहुंचा प्रतिभाशाली, संवेदनशील युवक ही है। अतः यह अस्वाभाविक नहीं कि इस बार भी प्रगतिशील अवसरवादिता पारंपरिक संस्कारों और आधुनिकता का टकराव नारी मुक्ति और योन कुंठा का द्वन्द छद्म बौद्धिकता और मानवीय ऊष्मा के तनाव से ही सामाजिक विषमता वर्गभेद आदि एवं आर्थिक विकास जनित जटलताओं से पाठक का साक्षात्कार होता है।

तीसरा अध्याय

सामाजिक चेतना —वर्ग विभाजन एवं जीवन मूल्य —

किसी भी लेखक की सामाजिक चेतना का विश्लेषण करने के लिए उसकी रचनाओं की पड़ताल कुछ सुनिश्चित शीर्षकों के आधार पर करने की परंपरा बन गयी है— वर्ग एवं जाति, इनसे पैदा होने वाला संघर्ष, नारी पात्रों का चित्रण इनका वर्गीय चित्रण एवं उत्पादन के रिश्ते जमीदार कृषक तथा पूंजीपति-श्रमिक संबंध एवं राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन साम्राज्यवाद विरोध आदि। बंकिम और प्रेम चन्द से लेकर अज्ञेय और फणीश्वरनाथ रेणु तक प्रमुख उपन्यासकारों के अध्ययन में यह शीर्षक मार्ग दर्शक-सहायक सिद्ध होते हैं। ऐसा नहीं कि मनोहर श्याम जोशी के उपन्यासों के सन्दर्भ में यह श्रेणियां 'कैटेगरीज' बिल्कुल अनुपयोगी हों पर इनको यथावत लागू करना जोखिम भरा है।

इनके दो कारण हैं पहला तो यह कि दोनों ही उपन्यासों के कथानक का ताना-बाना दो तीन प्रमुख पात्रों के इर्द-गिर्द घूमता है जो अपना परिवेश साथ लिये रहते हैं। फिर, जिस तरह की अत्याधुनिक प्रयोगशील शैली लेखक ने अपनाई है उसमें निहित 'सिनिसिज्म' पाठक आलोचक और लेखक के बीच एक बड़ी खाई पैदा कर देता है। लेखक जान बूझ कर अपने उन पात्रों को सायास 'डिस्टेंस' रखता है जिन्हें उसकी सामाजिक चेतना का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करने वाला माना जा सकता है। तब भी भूमिका के रूप में यह कहा जा सकता है कि लेखक की सामाजिक चेतना से कटी नहीं और उसके प्रगतिशील तेवरों से अक्षोष कई जगह देखे जा सकते हैं। पात्रों का निरूपण यथार्थवादी ढंग से उनकी आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार किया गया है। हां, इतना जरूर है कि उनके पारिवारिक सांस्कृतिक मूल्य उन्हें सामाजिक-यथार्थवादी कठपुतला बनने से बचाते हैं।

मनोहर श्याम जोशी जी के दोनों उपन्यासों में सामाजिक चेतना का प्रमुख स्वरूप पारिवारिक है। आर्थिक संबंधों के बदलाव के साथ - साथ पारिवारिक रिश्तों में परिवर्तन को कथानक अभिव्यक्त करता है। मुख्य पात्र 'कुरु कुरु स्वाहा' में वाचक उर्फ मनोहर उर्फ जोशी जी हों या 'कसप' में डी॰डी॰। यह व्यक्ति अपने पारिवारिक माहौल को हरदम हर जगह साथ लिए मिलते हैं। संयुक्त परिवार बल्कि संयुक्त परिवार कुटुंब कबीले, नाते-रिश्तेदारों की लम्बी-चौड़ी जमात मनोहर/जोशी जी अथवा डी॰डी॰ के चरित्र को समझने के लिए व्यापक सन्दर्भ के रूप में सतत साथ रखना परमावश्यक है।

निम्न मध्यवर्गीय यथार्थ : परिवार का बोझ

दोनों ही पात्र कस्बाती माहौल से निकले निम्न मध्यवर्गीय निरीह और 'एन्टी हीरो' किस्म के हैं- गैर दुनियादार भोले, अबोध, मासूम। यह सिर्फ संयोग नहीं कि इन दोनों को ही कई जगह अपेक्षाकृत तेज तर्रार नायिकायें, बालक या बच्चा नाम से सम्बोधित करती हैं। यह पात्र सिर्फ शिशु नहीं अदभुत प्रतिभाशाली और संवेदनशील भी है। यही कारण है कि पारिवारिक चेतना के प्रभाव में इनका बुनियादी संस्कार निरन्तर बदलता है। यह पात्र निरे अवसरवादी, समझौता परस्त नहीं। अपनी जड़ों से कटते नहीं। बम्बई में मायाविनी पहुचेली के चंगुल में फंसे मनोहर को अपनी दीदी के यहां हाजिरी लगाने की याद हमेशा बनी रहती है। घरेलूपन इन नायकों के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। यह कहा

जा सकता है कि लेखक इस यथार्थ को दर्शाना चाहता है कि निम्न मध्य-वर्गीय व्यक्ति परिवार के बोझ को ढोता रहता है। कहीं जिम्मेदारी के रूप में तो कहीं औपचारिकता के दबाव में।

> "शादी के बाद फैसला करके जोशी जी घरेलू संस्करण में परिवर्तित हुए और अपनी बहन के घर पहुंचे। वहां उन्होंने अपना घरेलू 'मूड' नम्बर दो प्रस्तुत किया जो पहले जितना बेतुका होते हुए भी स्वजनों को अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य है।"[1]

सफल फिल्म निर्देशक बन जाने के बाद भारत लौटा डी॰डी॰ फेहरिस्त बना, ढूंढ-ढूंढ कर अपने पुराने सम्बन्धियों से मिलने का प्रयत्न करता है। गांव पहुंचने पर उसके बदले स्वरूप से आहत, निराश होता है। यह व्यक्तिगत 'नोस्टेलजिया' ही सामाजिक चेतना को जागृत करता है। मैत्रेयी के साथ उसका वार्तालाप इस मर्मभेदी यथार्थ को रेखांकित करता है—

> "क्या देख रहे हैं ऐसे?"
> "अपने अतीत का प्रेत।"[2] तथा

> मंदिर के पास नाले में एक बुढ़िया पानी भर रही है। यह बचुली बुवा नहीं है। इसके साथ जो लगभग नंग-धड़ंग लड़का है वह देबिया नहीं है।[3]

---

1. मनोहर श्याम जोशी 'कुरु कुरु स्वाहा' पृ॰ 68॰
2. मनोहर श्याम जोशी 'कसप' पृ॰ 289॰
3. मनोहर श्याम जोशी 'कसप' पृ॰ 299॰

अतीत का प्रेत को देखते ही डी•डी• का साक्षात्कार वर्तमान के कटु यथार्थ से होता है—

> गंगोलीहाट के निकट एक गांव में गाड़ी रूकवायी है डी•डी• ने। उसे इच्छा हुई कि कुछ ठेठ गंवारपन की बातें कहे-सुने। "कुशल-बात भल छू तुम्हारी? नानतिन भले छने? धिनाली-पाणि के छू? गुमरोड़-बगोड़? शाकपात के हरेयो?" {ठीक तो हो? बच्चे मजे में? ढोर -ढंगर क्या हैं? दुधारू-वोर दूध के? साग भाजी क्या लगी है?} वे सब गंगोलीहाट वाली कुमाउंनी बोल रहे हैं, जिसके उच्चारण का गाढ़ापन यहां के लोगों को प्रीतिकर और बाहर वालों को विचित्र लगता है। 'हला' वाली प्रीतिकर बोली बोलने-सुनने के बावजूद देवी दत्त को अच्छा नहीं लग रहा है। इस बोली में भ्रष्ट राजनीति बोल रही है।"[4]

अपने गांव वालों की मीठी बोली में यदि वह भ्रष्ट राजनीति की अनुगूंज सुनता है तो यह लेखक की अपनी सामाजिक चेतना का ही आरोप है। गांव वालों को डी•डी• सरकारी अनुदान दिलाने वाला आला अफसर नजर आ रहा है। पर राह चलते इस स्वगत टिप्पणी का प्रभाव पैना नहीं रहता।

4• मनोहर श्याम जोशी 'कसप' नई दिल्ली, पृ• 286•

मानव सम्बन्धों की आर्थिक नींव :-

वैसे यह कहा जा सकता है कि यह सब कथानक के यथार्थवादी स्वभाव को बनाये रखने के लिए अनायास ही हुआ है, पर यदि ध्यान से देखें तो आर्थिक संबंधों के अनुसार बदलते संबंधों को ही लेखक की सामाजिक चेतना ने लिपिबद्ध किया है। लेखक इस बात को भली-भाँति महसूस करता है कि पारिवारिक रिश्ते-नाते व्यक्ति विशेष की आर्थिक हैसियत पर टिके रहते हैं। इसका एक मार्मिक उदाहरण 'कसप' में मिलता है जब अपने बचपन के साथी बब्बन के यहां जाने पर डी॰ डी॰ टीका लगवा कर पांच रुपये स्वीकार करता है और एक तरह से बदले में बब्बन की लड़की को सौ रुपये का नोट दे खुद ही असमंजस और संकोच में पड़ता है।

इसी तरह बकुली केंजा वाला प्रसंग बीस-बाइस साल पहले इस विधवा को डी॰डी॰ की प्रेयसी की निगरानी के लिए गुणानाथ भेजा गया था और यह विधवा चौकस सन्तरी की भूमिका निभाने में असफल रही थी। शायद इसी कारण कृतज्ञ डी॰डी॰ उनकी लड़की की शादी के वक्त दो हजार रुपये अमरीका से भेजता है।

यहां यह याद रखने लायक है कि डी॰डी॰ के पिता की मृत्यु उसके शैशव में ही हो चुकी थी और उसका लालन-पालन घर, देहात में रहने वाली उसकी बुआ ने किया। किशोरावस्था अभाव में बीती और नव-यौवन में वह बोझ ही समझा जाता रहा। अपनी बात कह सकने में असमर्थ 'लाटा'। उपन्यास के आरम्भ से ही अपनी पहचान बनाने

के लिए डी•डी• अक्सर ऐसे पराक्रम करता है जो असहय ढंग से खर्चीले हैं — जैसे बेबी के एक इशारे पर बम्बई से अल्मोड़ा पहुंच जाना पूरी की पूरी टैक्सी लेकर।

> डी•डी• टैक्सी से अल्मोड़ा आया है। साथ में 'असिस्टेण्ड' भी है उसके। फिल्म बनायेगा, यह घटना जितनी उल्लेखनीय डी•डी• के लिए है, उतनी ही अल्मोड़ा शहर के लिए।••• डी•डी• दया के लिए महंगी साड़ी लाया है। §पौने तीन सौ की होगी कम-से-कम। नहीं, पौने तीन सौ की तो क्या होगी, अभी पिछले साल मेरी मामी ने ली थी कुसुम की शादी के लिए, दो-ढाई की ऐसी आती है ये वाली. कांजीवरम् टेम्पल। महारानी 'रेड कलर ब्वाइस' अच्छी है, जरा 'डिफरेंट' भी हो गया ना। 'टैग' तो इस पर दो सौ नब्बे का है। अरे वहां 'डिस्काउण्ट' होता ही रहने वाला हुआ।••• डी•डी• बेबी के लिए भी साड़ी लाया है और पाजेब भी। §क्यों जी, बेबी के लिए साड़ी लाया कैसा हुआ यह? जो तो बेबी को बेणी समझकर लाया है तो क्या गुड़िया उसकी बेणी नहीं ठहरी बल? और ये झनक-झनक पायल बाजे क्या ला रहा होगा? अनूप सहर ठाकुरद्वार वाली समझ रखी उसने हमारी बेबी?§••• डी•डी• टैक्सी से आया है और इसी टैक्सी से कल विदा के बाद कभी दिल्ली लौट जायेगा। डी•डी• 'अपनी' टैक्सी सबको इस्तेमाल करने दे रहा है। §दिल्ली से टैक्सी लेकर आने-जाने में कितने लगते होंगे मम्मी? कौन गया होगा टैक्सी से, किसे मालूम हो रहा होगा?§[5]

5• मनोहर श्याम जोशी 'कसप' नई दिल्ली, पृ• 109•

उपरोक्त उद्धरण से यह बात स्पष्ट होती है कि लेखक की दृष्टि में, उसकी सामाजिक चेतना के अनुसार समाज में सफलता की कसौटी सिर्फ आर्थिक क्षमता से बनती है। टैक्सी लेकर आना हो या स्वजनों के लिए सुर्वीले उपहार, आत्मीयता का पैमाना पैसा ही है।

सारे कथानक में यह बात हर जगह स्पष्ट उभरी है कि यदि डी॰ डी॰ बेबी के लिए अयोग्य और अनुपयुक्त है तो उसके लिए कहीं न कहीं उसकी गरीबी और बगड़गांव वाला देहाती होना जिम्मेदार है। बाद में भी डी॰डी॰ के सम्बन्ध अपने पूर्व परिचितों चचेरे-मौसेर भाई-बहनोंके साथ सिर्फ आर्थिक ही रह जाते हैं।

पर यह सुझाना गलत होगा कि आर्थिक शब्द का प्रयोग व्यावसायिक पर्याय में किया जा रहा है। 'कसप' के ही एक और मार्मिक प्रसंग में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि उसकी सहानुभूति डी॰डी॰ के साथ है। ऐसा कतई नहीं कि डी॰डी॰ अपनी व्यावसायिक सफलता के कारण या विदेश में प्रवास-पलायन के कारण किसी अपराध बोध से ग्रस्त है बल्कि लेखक ने बड़ी सहजता से नियमित-अनियमित रूप से जरूरतमंद मित्रों-सम्बन्धों के लिए भेजी जाने वाली उपहार सहायता राशि को पहाड़ी समाज की 'मनीआर्डर' अर्थ-व्यवस्था का ही रूपान्तरण बना दिया है।

> क्या डी॰डी॰ मैदानों में पैसा कमाने आया हुआ पहाड़ी लड़का मात्र है कि सपने में मरे हुए बाप को देखता है और अगली सुबह अपने से, अपनों से परामर्श करता है : 'कल रात बौज्यू दीख पड़े सपने में। मच-मच लगायी ठहरी - '

> छत बदलवानी है, खेत ढह गये हैं, स्कूली को टीके के पैसे नहीं भेजे, नवरात्रि में पाठ नहीं कराया। बहुत ही कमजोर जैसे दीखे, कहा। क्यों दिखे होंगे? और निष्कर्ष यही निकलता है कि 'पितर असन्तुष्ट हैं। पैसे भिजवाओ, गाँव में पूजा-वूजा करवाओ। छत ठीक करानी ही हुई, करवा लो।'[6]

पाठक को लगता है कि सफल वयस्क डी॰डी॰ भी किशोर डी॰डी॰ की तरह गूंगा ही रह गया है और अपने को औरों के साथ जोड़ने के लिए यही एक माध्यम-मुद्रा विनिमय वाला उसके पास बचा है। उसके प्रति एक करुणा का भाव ही हमारे मन में उपजता है यह इस तरह की पारिवारिक चेतना वास्तव में मध्यवर्गीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करना ही है। योग्य पुत्र-पात्र की यह जिम्मेदारी है कि वह पितृ-ऋण से मुक्त हो और अपने पर आश्रितों का जीवन निर्वाह करने का प्रयत्न करे।

ऊपर उद्धरित बब्बन वाले प्रसंग में भी इन बातों की ओर पुष्टि होती है—

> बाहर एक पटेहाल लेकिन 'पंटूश' किस्म का लड़का दरवाजे को तबला बनाये हुए गा रहा है-'दोस्ती इम्तहान लेती है।'
> "बब्बन है? डी॰डी॰ पूछता है।
> "कौन बब्बन?" लड़का पूछता है और गाता है 'दोस्ती की जान।'[7]

6॰ मनोहर श्याम जोशी 'कसप,' नई दिल्ली, पृ॰ 270॰
7॰ मनोहर श्याम जोशी 'कसप,' नई दिल्ली, पृ॰ 274॰

बब्बन की दरिद्र बेचारगी उसके लड़के के नाकारा रह जाने से कई गुना बढ़ जाती है। जिस फिल्मी गाने को संवाद में गूँथा गया है वह इस सन्दर्भ में द्विअर्थक है और डी॰डी॰-बब्बन की लड़कपन की दोस्ती, वर्तमान उत्तर दायित्व, मित्र धर्म को रेखांकित करता है। दोस्ती का फर्ज भी एक तरह का कर्ज है जो मध्यवर्गीय परिवेश में विशेष महत्वपूर्ण समझा जाता है।

लेखक की सामाजिक चेतना और पात्रों का वर्ग चरित्र :-

मध्यवर्गीय चेतना की एक विशेषता यह है कि उसमें जीवन के पतनशील तत्व ह्रासोन्मुख परिवार और सामन्ती जीवन मूल्यों को जतन से सहेज कर रखते हैं। (इसके अतिरिक्त उनकी पूंजी ही क्या है?) इस वर्ग के सदस्यों की प्रमुख चिंताएं हैं सुरक्षा, आर्थिक एवं सामाजिक 'स्टेटस' हैसियत या औकात न गिरने पाए तथा रोजगार के मामले में आश्वासन। बब्बन जिस क्लेश के साथ अपने लड़कों के बारे में डी॰डी॰ को बताता है वह भयानक रूप से त्रासद है। यहां शायद यह जोड़ना जरूरी है कि जोशी जी के उपन्यासों में पारिवारिकचेतना जिन पात्रों के माध्यम से झलकती है वे या तो मध्य वर्ग से नीचे की ओर फिसलते हैं या तेजी से अर्ध्वगामी अवसरवादी हैं। दोनों ही स्थितियों में हमें उस मध्यवर्गीय चेतना का अभाव खलता है जो पारंपरिक समाज को स्थिरता देती है और भविष्य की सार्थक तलाश को दिशा। पात्रों के अन्तर सम्बन्धों में संवादों में कोई

टकराव या द्वन्द मूल्यों से जुड़ी बहस का रूप नहीं लेती। ऐसा लगता है कि इन पात्रों की 'नियति' ही इनके चरित्र प्रकृति के जड़ देते हैं। वे अपने-अपने भाग्य के अनुसार आचरण करने के लिए विवश हैं। लेखक 'पोस्ट माडर्निस्ट' मुद्रा में काले और सफेद के बीच मोटा फर्क नहीं करना चाहता, उसे सलेटी भूरे रंग के दर्जनों शेड नजर आते हैं। 'कुरु कुरु स्वाहा' हो या 'कसप' लेखक हमें अनायास ही इस नतीजे तक पहुंचा देता है कि मुख्य पात्रों में कोई भी गलत नहीं है। यह बात विशेषकर युवा पात्रों पर लागू होती है।

शास्त्री जी और शास्त्रानी जी के सम्बन्ध जिस तरह से चित्रित किए गए हैं उससे यह लगता है कि पारिवारिक चेतना सिर्फ आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित नहीं। काशी के संस्कृत अध्यापक से लेकर राज्य सभा की सदस्यता हासिल करने वाले इन महानुभाव के लिए उसकी पत्नी जीवन पर्यन्त 'कार्तिकेय की महतारी' ही बनी रहती हैं। ध्वनि यह है कि पारंपरिक परिवेश में समृद्ध परिवार में भी नारी की अपनी अलग पहचान, हैसियत कुछ नहीं थी- वह पुरुष की पत्नी, उसके बच्चों की मां भर थी। सहचरी-अर्धांगिनी इसे कैसे मान सकते हैं? हां इतना अवश्य है कि समृद्धि बढ़ने के साथ अपने बच्चों को जिस तरह की शिक्षा शास्त्री जी दिलाते हैं उससे बच्चों व मां-बाप के बीच खाई पैदा होती है।

जोशी जी के उपन्यासों में समाज का वर्ग-विभाजन काफी बारीकी से विश्लेषित किया गया है, पर उन्होंने कहीं भी नारेबाजी वाले मुहावरों में वर्ग-संघर्ष आदि का उल्लेख नहीं किया। किन्तु फिर भी सामाजिक परि-

वर्तन के साथ नव-धनाढ्य वर्ग का उभरना आदि अनदेखे नहीं किये गये हैं।

> तब के कई सम्पन्न घरों पर ताले पड़े हैं या उनमें कोई अजनबी आ बसे हैं। तब के कई विपन्नों ने अच्छे घर बना लिये है। डी॰डी॰ दुखी है। डी॰ डी॰ जो तब का विपन्न और अब का सम्पन्न है। कभी के अत्यन्त शक्तिशाली और सम्पन्न समझे जाने वाले परिवार के पुश्तैनी मकान की जगह सिनेमाहाल खड़ा है और सिनेकार डी॰ डी॰ दुखी है।[8]

जिस तरह वर्णन यहां किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि नायक के अवसाद में लेखक की भी सांझेदारी है इसे बीते हुए वैभव के प्रति मोह का प्रमाण ही माना जा सकता है। किसी कुलीन कुटम्ब की जमीन पर सिनेमा हाल खुलने की कथा को सामुहिक व्यथा कैसे माना जा सकता है।

'कसप' और 'कुरु कुरु स्वाहा' में हमारी भेंट अनेक उप पात्रों से भी होती है। 'कुरु कुरु स्वाहा' के तलाटी साहब को लें, संतीरू या किसी और को, लेखक ने ऐसे पात्रों की चेतना और रूढ़ियों के बारे में सरलीकरण की नादानी नहीं की है। विभिन्न स्थितियों में इसे विविधता के साथ चित्रित किया गया है। जहां इससे पात्र सजीव बने है यह अनुमान लगाना कठिन है कि लेखक स्वयं किस तरह की चेतना का

8॰ मनोहर श्याम जोशी 'कसप', नई दिल्ली, पृ॰ 276॰

का प्रतिनिधित्व करता है और किन मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध है। यह सारे पात्र व्यक्तिगत रूप से रोचक हैं और इनकी चेतना पारिवारिक एवं सामाजिक सामूहिक रूप से एक समान सामने नहीं हैं। हां इतना जरूर है कि लेखक ऐसे पात्रों को बहुधा एक दूसरे की मदद करने वाला एवं कलाकार बौद्धिक पात्रों की तुलना में अधिक मानवीय दर्शाता है।

'कुरु कुरु स्वाहा' के एक प्रसंग में 'बीटनिक' नुमा एक लेखक के साथ मुठभेड़ के माध्यम से कथावाचक/ उपन्यासकार ने इस बात को दर्शाने का प्रयत्न किया है कि 'सफलता' के पथ पर अग्रसर होनहार मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी सामाजिक चेतना को कैसे कुन्द होने देता है, एवं वह किस हद तक कटु बहस या यथार्थ के साक्षात्कार से कतराता है।—

> खलीक ने मुझे कालर से पकड़ा और मेरी नाम अपनी बालों से भरी काख में घुसा दी, "कहिए कुछ महक मिली आपको मेहनतकश हिन्दुस्तानी?... मैंने उसे धक्का दिया तो वह हाथापाई पर उतर आया। मैं बहुत आसानी से उसे पीट सकता था लेकिन जोशी जी के अनुसार पिटकर भी वह जीतता। उसके गलत-सही चाहे जैसे 'विद्रोह' के समक्ष मेरी 'समझौतापरस्ती' हारी हुई ही ठहर सकती थी।[9]

इसी उपन्यास में एक और स्थान पर लेखक ने निर्ममता के साथ आत्मकथात्मक रहस्योद्घाटन किया है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति को किस तरह की चीजें - उपभोक्ता सामग्री, अपने मोहपाश में मंत्र-मुग्ध रखती हैं।—

---

9. मनोहर श्याम जोशी 'कुरु कुरु स्वाहा,' नई दिल्ली, पृ. 28.

> यह जोशी जी हैं साहब। इनके सुनहरे प्रेम पर गौर करें। दिल्ली लौटने के तीन साल के भीतर ए-क्न बाथरूम का जुगाड़ अभी तक नहीं हो पाया, बाकी कार-फ्रिज, टी॰ वी॰, प्रियदर्शिनी फोन सब है आपकी दया से।[10]

यही लालच उससे समझौते करवाते रहते हैं।

सामाजिक चेतना और नारी का चित्रण :

जोशी जी के दोनों ही उपन्यासों में नारी पात्र कथानक का केन्द्र बिन्दु है। 'कुरु कुरु स्वाहा' में पहुँचेली उर्फ तारा झावेरी और 'कसप' में बेबी उर्फ मैत्रेयी देवी कथावाचक नायक को निरन्तर अपने मोहपाश में बांधे रहते हैं। इन दोनों ही पात्रों को वर्ग-विश्लेषण के माध्यम से समझना कठिन है और न ही उपन्यास में उनके चरित्र-चित्रण से नारी की स्थिति के बारे में जोशी जी की सामाजिक चेतना विषयक प्रामाणिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

'मायावी,' 'मुक्त' नारी के रूप में मध्यवर्गीय नारी संबंधी फेन्टेसी :

नायक मनोहर उर्फ जोशी जी के साथ पहुँचेली तारा झवेरी के सम्बन्ध कम महत्वपूर्ण नहीं। यह गम्भीरता से सोचने का विषय है कि क्यों वह जोशी जी को इस तरह अपनाती है। क्या उसे बम्बई महानगरी

10॰ मनोहर श्याम जोशी 'कुरु कुरु स्वाहा,' नई दिल्ली, पृ॰ 236॰

में किसी अवलम्बन की जरूरत थी? क्यों बूढ़े बीमार संरक्षक प्रेम से ऊबी वह 'अनाघ्रात पुष्प किसलियलून' जैसे अक्षत कुमार का आस्वाद करना चाहती थी :

> उसने मेरी हथेली पकड़कर उस बिग क्लोज-अप के बाये हिस्से पर रख दी थी। शायराना 'डायलॉग,' तवायफाना हरकत। और उसके बाद सरासर हिमाकत। वह कह रही थी, 'ॐ लं मदनाये नमः।' ¹¹

वास्तविक स्थिति यह है कि जोशी जी अपने को चाहे लाख 'पोस्ट मार्डनिस्ट' कहें उनका मिजाज बुनियादी तौर पर रोमानी पलायनवादी 'फैन्टेशी' वाला है। इन दोनों ही चरित्रों को जिस तरह उभारा-संवारा गया है उसमें रहस्य और कुतूहल का जो पुट दिया गया है वह इन्हें मायावी बनाता है, इन्हें वर्गीय खाँचों में रखना असंभव कर देता है।

पहले पहुँचेली को लें, वह कौन है? रण्डी, रखैल या तांत्रिक शक्ति सम्पन्न साधिका? वह परिस्थितियों की मारी दुर्भाग्य के थपेड़े सहती अबला कतई नहीं है और न ही उसे उच्छृंखल स्वदम्य वासना से पीड़ित निरन्तर कामातुर नायिका ही कहा जा सकता है। लेखक ने

---

11. — मनोहर श्याम जोशी, 'कुरु कुरु स्वाहा,' नई दिल्ली, पृ. 54.
पहुंचेली की पहेली को लेखक सुलझाना ही नहीं चाहता, आगे एक जगह लिखा गया है — "याक्षिका है कि दायिनी है, यह न जानते हुए, यह न जानना चाहते हुए, वह दौड़ा उस पसरी गदोली की ओर।
मनोहर श्याम जोशी, 'कुरु कुरु स्वाहा,' नई दिल्ली, पृ. 224.

उपन्यास के विभिन्न हिस्सों में जो संकेत पहुंवेली के प्रारम्भिक जीवन के बारे में यत्र-तत्र बिखेरे हैं उनके आधार पर पाठक सिर्फ यही नतीजे निकाल सकता है कि इस पात्र का जन्म सम्पन्न मध्य वर्ग में हुआ था, संयोगवश वह पथ भ्रष्ट हुई और निम्न वर्ग में जा फंसी। निश्चित ही जब शिवा चन्द्रा से उसका सम्पर्क होता है तो वह उच्च वर्ग की सदस्या उस वर्ग के पुरूष के संसर्ग से बन जाती है।

एक रोचक बात यह है कि सारे उपन्यास में उसका आचरण एक साथ एक ही समय ऐसा होता है जिससे लगे कि वह तीनों वर्गों का एक साथ प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृत तंत्र शास्त्र का उसका ज्ञान वाक-पटु जोशी जी को चुप कराने के लिए काफी है और यही झलकता है कि उसकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा मध्यवर्गीय परम्परा के अनुकूल है। यही महिला भावेश में तमाम कुंठाओं व ग्रन्थियों से मुक्त हो एक ऐसी स्वच्छ-न्दता का प्रदर्शन करती है जिसका उपभोग निम्न वर्गीय सर्वहारा व्यक्ति ही कर सकता है और फिर यही पात्र अवसरानुसार स्वामिनी की मुद्रा ओढ सकता है और सेवकों - अनुचरों से अपनी दूरी स्पष्ट कर सकता है।

यहां कुछ सवाल उठाना जरूरी है- क्या लेखक का अभिप्राय यह है कि नारी सिर्फ स्त्री है जिसके बारे में उन्होंने मनु की स्थापना स्वी-कार की है कि शैशव में उसे पिता के संरक्षण की, यौवन में पति के और देवात् वैधव्य में भाई के संरक्षण की जरूरत रहती है? अभिभावक के संरक्षण के अभाव में वह बलात्कार और शोषण से नहीं बच सकी। जो कुछ भी संस्कार वह ग्रहण करती है वह उपभोग वस्तु के रूप में उसके आकर्षण को

बढ़ाते हैं। पहुंचेली की प्रतिभा, मेधा, मुखरता याद दिलाते हैं काम सूत्र के लेखक वात्सायन की उस व्यवस्था की जिसमें उन्होंने वासक सज्जा वेश्या के सोलह कलाओं में पारंगत बनाने वाले प्रशिक्षण का विधान किया है। यदि पल भर के लिए यह मान लें कि यह सारी विडम्बना भ्रामक है उस स्थिति में तमाम अन्तर्विरोधों का अन्त हो जाता है। यदि हम यह मान लें कि यह पात्र इसी 'सर्रियली' तरीके से 'सिचुवेशन' में तांत्रिक साधिका है पर तब भी वह पुरूष के लिए ऊपर उठने का एक माध्यम, सोपान भर है। उपन्यास के एक भाग में पहुंचेली स्वयं कहती है - 'जो जितना नीचे गिरी होती है वह उतना ऊपर पहुंचा सकती है।'

'कसप' का एक और नारी पात्र, गुलनार है जिसका कुछ-कुछ मेल पहुंचेली से है। नायक प्रेमी-पुत्रवत अपनाने की उसकी मुद्रा भी वैसी ही है। गुलनार, प्रेमी और पुत्र की स्थिति गड्ड-मड्ड करने वाले अचेतन निर्देशित किसी नाटक में तिलिस्मी भूमिका अदा करती दिखाई गई है। उसे समलैंगिकता के दौर से गुजरता तक दिखाया गया है पर कुल मिला कर कोई ठोस स्थापना करने में लेखक असफल रहता है। भले ही गुलनार डी•डी• को एक दौर में अपना रखैल बनाती है पर अन्ततः वह खुद डी•डी• नामक पुरूष के आगे बढ़ने की सीढ़ी भर है, उसकी अपनी नियति अमरीकी फिल्म निर्देशक मेट की रखैल बनना ही है। :

> वह तो मुझे वात्सल्य भाव से भोगता रहता और चाहता कि मैं प्यारी - प्यारी बच्ची बनी रहूं, उसके बिस्तर की शोभा बढ़ाती रहूं। यह तो मैं थी जो उसे जता सकी-

> कि इस तरह के वात्सल्य की कीमत चुकानी पड़ती है पिताजी। मैंने उस हरामी के आर्थिक-बौद्धिक अण्डकोष चूसकर फेंक दिये।[12]

इसके माध्यम से जोशी जी ने स्वाधीन आधुनिक मुक्त नारी का चित्रण करने का प्रयत्न किया है। पर गुलनार मुक्त पश्चिमी नारी का 'स्टिरियोटाइप' नहीं। 'केरीकेचर' भी नहीं। इस अत्याधुनिका ने अपनी भारतीयता को मातृत्व को बचा कर रखा है। अवचेतन के किसी कोने में। वह भी दुर्बल क्षणों में डी॰डी॰ का आत्म दया भरा प्रलाप सहानुभूति से सुनती है। उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। वह डी॰डी॰ नामक हीरे की पहली पारखी है।

गुलनार 'शावर' लेती है, फिर 'पूल' में तैरती है। डी॰डी॰ सुनाता रहता है अपना अतीत और वह बगैर कुछ कहे सुनती रहती है। इस अतीत में उसका भविष्य जितने भी करतबी लोग हुए हैं आज तक, सबके सब दरिद्र, रुढ़िग्रस्त और अतिशय भावुक समाज में जन्म हैं, चोट खाये हैं। आकांक्षा की दौड़ में 'आहत भूख' सबको पीछे छोड़ता आया है। यह भूख भी आगे बढ़ेगा, क्रोध में।

यहां यह ध्यान में रखने लायक है कि पात्र का चरित्र-चित्रण लेखक ने किया। वह बात महत्वपूर्ण नहीं कि वास्तविक जीवन में ऐसा पात्र कहीं किसी को देखने को मिल सकता है या नहीं, पर हमारे लिए शोध का विषय यह है कि क्यों लेखक ने इस पात्र को इस तरह का दर्शाया है।

12॰ मनोहर श्याम जोशी 'कसप', नई दिल्ली, पृ॰ 156॰

इस बात को संदेह का कोई अवकाश नहीं कि इतने संसलिष्ट मायावी पात्र इसी लिए गढ़ा गया है कि नारी के विषय में लेखक की अवधारणा रोमांटिक 'फेन्टेसी वाली' ही है। मिथकीय रोमानी इच्छा-पूर्ति और नागर 'सिनिसिज्म' के इस विचित्र घाल-मेल में, वह न तो यह मानता है 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' और न ही 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' वाली मान्यता में उसकी साझेदारी है। पहुंचेली या गुलनार के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वर्ग - गत संस्कार उसका चरित्र निर्माण करते हैं। उसका नारी होना सबसे अहं बात है।:

> "बालक, मेरे जीवन-दर्शन को मेरी विशिष्ट परिस्थितियों से उपजा सिद्ध करने का दुस्साहस आइन्दा कभी न करना भूलकर। भगवान जानता है कि मैं इस सबके लिए मनोचि-कित्सकों को काफी पैसा दे चुकी हूँ कभी। करुणा भूल जा। माताजी अच्छी हैं तो उन्हें ऐसा बता चूमकर।" 13

गैर जरूरी ढंग से खींचतान कर इस निष्कर्ष तक नहीं पहुंचा जा सकता कि हर नारी शोषित है, उत्पीड़ित-अल्प संख्यक है और सर्व-हारा भीड़ में एक चेहरा। 'कसप' की नायिका बेबी-पहुंचेली से बहुत भिन्न है। खिलंदड़ी, कुलबुली, लड़कैंधी और अपनी बाप की मुंह लगी। इसके पारिवारिक जीवन के बारे में कोई रहस्य बनाकर नहीं रखा गया है। इसके पिता शास्त्री जी सम्पन्न मध्यवर्गीय हैं और अपनी विद्वता,

---

13. मनोहर श्याम जोशी 'कसप,' नई दिल्ली, पृ. 158.

अपने कुल की सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण उच्च वर्ग की सरहद तक पहुँचे और समझे जा सकते हैं। खुद उनकी पढ़ाई-लिखाई पंडिताऊ तरीके से हुई पर उनकी लड़की कॉनवेंट में पढ़ी है। उसके आचरण से यह बात स्पष्ट है कि उसे व्यक्तित्व को कुंठित करने वाली वर्जनाओं का सामना नहीं करना पड़ा है। बाप की मुंह लगी होने के कारण ही बेबी को अपने जीवन के बारे में निर्णय लेने की स्वाधीनता मिली हुई है ऐसा नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बेबी का चित्रण करते वक्त इस बात को अच्छी तरह महसूस कर रहा था कि बदले समय के साथ मध्यवर्गीय परिवार में बच्चे विशेषकर अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव में पहली पीढ़ी की अपेक्षा कहीं अधिक, काफी जल्दी आत्म निर्भर होने लगे हैं और बेझिझक अपना विरोध, निजी मूल्यों के अनुसार प्रकट करते हैं। इसका प्रभाव नारी / कन्या की स्थिति को बेहतर बनाने वाला ही समझा जा सकता है। निश्चय ही लेखक की सामाजिक चेतना उसे इस नई पीढ़ी का पक्षधर बनाती है। 'कसप' में एक स्थान पर जब बेबी अपने पिता को डी॰डी॰ के साथ सम्बन्ध विच्छेद की सूचना देती है तो उसके साथ मर्म स्पर्शी लेखक की सहानुभूति यही प्रमाणित करती है -:

> कहती है, कुछ ऐसे मानो यह एक यों ही सी बात हो, बापू, मैंने तुमसे एक दिन आकर कहा था मेरी शादी हो गयी है। आज मैं तुमसे कह रही हूँ उस शादी में ना मैं विधवा हो गयी।[14]

14॰ मनोहर श्याम जोशी, 'कसप,' नई दिल्ली, पृ॰ 158॰

एक बार फिर बेबी के संदर्भ में वर्ग-भेद आधारित विश्लेषण निरर्थक लगता है। जिस परिवेश में इस प्रेम कथा का ताना-बाना बुना गया है उसमें रिश्तेदारी-बिरादरी, (एक सीमा के भीतर) व्यक्तिगत गुण-वर्ग भेद से ज्यादा महत्वपूर्ण है। डी॰डी॰ की जोड़ी सिर्फ इसलिए असंभव रही कि डी॰डी॰ गरीब है बल्कि इसलिए कि वह अव्यवहारिक 'लाटा' है और दोनों के बीच उम्र का अन्तर भी है। बाद में कथानक विकास के साथ बेबी उतावली, लड़कैंधी, मनमोजी नहीं रहती बल्कि संयत व्यवहारिक कलानुरागी, गृहस्थिन नारी में बदल जाती है।

एक अल्हड़ सी, अनपढ़ सी, अल्मोड़िया सी, बेबी का बहुत तेजी से परिष्कृत युवती मैत्रेयी में बदल जाना शायद लेखक के अनुसार उसके मध्यवर्गीय चरित्र के अनुसार ही हुआ है। पहनने-ओढ़ने, बोलने-चालने में आभिजात्य की छाप आने के साथ वह रूखी या नीरस नहीं बनती। हंसी मजाक में वह सबसे आगे रहती है जो एक खास तरह का काइयाँपन सेंध लगा देता है उसके व्यक्तित्व में।[15]

देवी दत्त के माध्यम से लेखक ने यह टिप्पणी की है कि यह काइयाँपन शायद ह्रासोन्मुख हिन्दू मानस की देन है जिसके चलते गरीबी और उपभोग की संस्कृति का एक दारूण समन्वय किया गया है जो भारत की आधुनिकता को भ्रष्ट करता है। पर यह प्रश्न उठाना आवश्यक है कि बेबी का मैत्रेयी देवी में कायाकल्प सिर्फ मध्यवर्गीय सुविधा प्रेमी भारतीय

---

15. विस्तार के लिए देखें विशेषकर 'कसप' पृ॰ सं॰ 259 तथा 292.

नारी की विवशता है या सभी निम्न मध्यवर्गीय प्रतिभाशाली, अक्सर-वादी पात्रों की यह नियति। डी॰डी॰ जैसे संवेदनशील पुरुष पात्र भी इसकी चपेट से अछूते नहीं।

निम्न मध्यवर्गीय नारी पतिव्रता, संघर्षशील, अभावग्रस्त :-

'कसप' में कुछ और नारी पात्र हैं। भले ही इनकी भूमिका छोटी सी है पर इनका प्रभाव काफी शक्तिशाली छूटता है। इन निम्न मध्य-वर्गीय नारी पात्रों का चित्रण लेखक ने गहरी सहानुभूति और संवेदना के साथ किया है और इनके संदर्भ में निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि इनका रेखांकन वर्गीय सहानुभूति के साथ वर्ग चरित्रानुसार किया गया है।

मनोहर उर्फ जोशी जी की विधवा मां की उपस्थिति 'कुरु कुरु स्वाहा' में निरन्तर मार्मिक ढंग से महसूस की जा सकती है और इन्हीं का उल्लेख 'कसप' में भी होता है। लेखक थोड़ा कहा बहुत समझने वाले अन्दाज में यह संकेत देता है कि ये एक ऐसी महिला थी जिन्होंने बहुत कष्ट झेले। शराब इसके पति को खा गयी और जिसे हमेशा अभावों से जूझना पड़ा। इस गरिमामय स्नेही नारी को उच्चवर्गीय आत्म सम्मान से प्रेरित/ बलिदानी माना जाय या मध्यवर्गीय विवशताओं की बदी? अन्य अभाव ग्रस्त बुढ़ियां (इन जैसी) प्रकट होती हैं और अवसाद को गहराती हैं।-:

> डी॰डी॰ जर्जर मकान की जर्जर सीढ़ियों की ओर बढ़ रहा है। अन्धी-बहरी बुढ़िया धूम-सिले आंगन में उसे समझ

> उपस्थित मानते हुए, मिठाई का डिब्बा खोलते हुए अब मिठाइयों के विषय में, मिठाई के शौकीनों के विषय में, मिठाई जब खायी-खिलायी गयी उन अवसरों के विषय में अपने संस्मरण सुना रही है। 'बब्बन' को। बुढ़िया की महीन और भिनभिनाती-सी आवाज सूने मकान में गूंज रही है। मकान इस प्रतीक्षा में है कि बुढ़िया मरे तो मैं भी विधिवत मर जाऊँ।[16]

इन नारी पात्रों के जरिए लेखक यही दर्शाता है कि इस वर्ग, इस पीढ़ी की स्त्रियों के भाग्य में भोगना नहीं झेलना ही लिखा था। पाल-पोस कर बच्चों को बड़ा करना, पति को आगे बढ़ाना एवं फिर अलग-अकेली पड़ जाना इसके अलावा यह कर भी क्या सकती थीं? इनकी भूमिका त्याग-तपस्या कष्ट सहिष्णुता वाली दिखलाई गयी हैं, संघर्ष की नहीं।

और बहुत सारे नारी पात्र हैं बचपन में गंगोलीहाट में डी॰डी॰ का लालन-पालन करने वाली एक गरीब बुवा जो कैंसर से मरती है या पटेहाल जिन्दगी बसर करती बब्बन की पत्नी, बीमार पति की सेवा करती, बेंणी या गणानाथ में लड़कियों पर नजर रखने के लिए भेजी गई विधवा मौसी। इन सब पात्रों के सन्दर्भ में जरूर यह लगता है कि लेखक की दृष्टि में निम्न मध्यवर्गीय या निम्न मध्यवर्गीय नारी कल्पना जीवन दुष्कर लाचारी भरा है वह जीवन पर्यन्त पराश्रित ही रहती हैं।

16॰ मनोहर श्याम जोशी, 'कसप,' नई दिल्ली, पृ॰ 280॰

लेखक की सामाजिक चेतना आम प्रगतिशील लेखकों जैसी नहीं इसी लिए पाठक को प्रेरणा देने की आशांन्वित रखने की कोई मजबूरी या दबाव उसके ऊपर नहीं जान पड़ता। ऐसी कोई स्त्री इन दोनों उपन्यासों में नहीं दीखती जिसमें हमें श्रमिक-कृषक वर्ग की निम्न मध्यवर्गीय महिलाओं में 'मदर इण्डिया' छाप जीवट और जुझारूपन के दर्शन हुए हैं। सबसे जुझारू स्वर मध्यवर्गीय बल्कि उच्च मध्यवर्गीय गुलनार का ही है जो कहती है अपनी आवाज उठा कर— "मगर यह सच है मैं दुनियां से साफ कहती हूँ कि मुझे किसी की करुणा नहीं चाहिए, मैं दुनियां को साफ जता देती हूँ कि मुझसे करुणा की उम्मीद न रखें। यह जीवट तो एक क्रूर दौड़ है, अपने-अपने पांवों के भरोसे भागो और जाने रहो कि जो पीछे छूटेगा, उसे सींग-पूंछवाला खा जायेगा।"[17]

कुल मिलाकर लेखक की सामाजिक चेतना और नारी पात्रों का चित्रण के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि रोमांटिकता का पुट लेते हुए भी उनके मध्यवर्गीय नारी पात्र अपनी वर्ग चेतना को बेहतर ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। ऐसे पात्र विशेषकर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के बाद अपने वर्ग का संक्रमण अपेक्षाकृत आसानी से कर देते हैं। सिर्फ बेबी मैत्रेयी देवी बनते-बनते बदलती है। यह 'बदलना' भी मध्य वर्ग में बने रहना ही है। यह भी कहा जा सकता है कि लेखक पाठक को यह जतलाना चाहता है कि अधिकांश मध्यवर्गीय लड़कियां (पहुचेली या गुलनार) वर्ग बन्धों को लांघने वाली नहीं होती बल्कि उम्र के साथ समझदार बनती हैं और उनका आचरण वर्गानुसार संचालित होता

---

17. मनोहर श्याम जोशी, 'कसप,' नई दिल्ली, पृ. 156.

है। इस उदाहरण में भी लेखक का रोमांटिक मन मैत्रेयी देवी में बेबी की झलक उपन्यास के अन्तिम मन्नों में देखता है। पुरानी लपट - (ओल्ड फ्लेम) कौंध जाती है भले ही यह क्षणिक हो। यहां बंगाली लेखिका मैत्रेयी देवी की आत्म कथा प्रेम गाथा 'न हन्यते' के शीर्षक की अनुगूंज स्पष्ट सुनी जा सकती है। ऐसा जान पड़ता है कि बेबी के लिए मैत्रेयी नाम सिर्फ संयोग वश नहीं चुना गया है। (वैसे भी उपनिषदों की परम्परा में ऋषि याज्ञावल्य की पत्नी का नाम मैत्रेयी है जो इसलिए विख्यात हैं कि ज्ञान के क्षेत्र में पुरूषों के बांधे बन्धन मानने को तैयार नहीं थी और निरन्तर पुरूषों के साथ शास्त्रार्थ करती थी, दूसरे शब्दों में जुबान लड़ाती थी) इससे यह भी प्रकट होता है कि उपन्यासकार के मन में नारी किसी विशेष वर्ग से जुड़ कर नहीं रह सकती। उसको अपनी जाति, वर्ण एवं वर्ग के बन्धनों को तोड़ उच्च वर्ण एवं वर्ग में जाने की अद्भुत क्षमता होती है।

सामाजिक चेतना का राजनैतिक आयाम- वर्गीय पक्षधरता एवं व्यक्तिगत प्रतिबद्धता:-

जैसा ऊपर नारी पात्रों के संदर्भ में कहा गया है लेखक की सामाजिक चेतना इसी विचारधारा के ढर्रे पर चलने वाली प्रगतिशीलता नहीं है। अतः उसके उपन्यासों में पूंजीवादी शोषण या सामन्ती उत्पीड़न का विरोध सीधे-सीधे नहीं किया गया। 'पोस्ट मार्डनिस्ट' स्थान और सिद्ध हस्त शिल्प कौशल के चमत्कारी प्रदर्शन में इसका अवकाश भी नहीं छोड़ा है। लेखक निरन्तर इसके प्रति सतर्क रहा है कि किसी

तरह की राजनैतिक प्रतिबद्धता या पक्षधरता के कारण उसे पुरानी पीढ़ी का या पिछड़ा हुआ न समझ लिया जाय। राजनैतिक संवाद या तो अन्य पात्रों की बहसों के जरिये संपन्न हुआ है या आत्मालाप के माध्यम से। तब भी पंक्तियों के बीच पढ़ने इन उपन्यासों के 'टैक्स्ट' को उनके 'कान्टेक्स्ट' में विश्लेषित करते यह कहा जा सकता है कि 'हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी' वाला प्रश्न लेखक को निरन्तर उद्वेलित करता है। 'सेलेब्रेटी' बनने के साथ या सफलता हासिल करने के साथ यह छद्म बौद्धिक नहीं बना है और न ही उसकी कृत्रिमता कुटिल बन गयी है। 'कसप' का डी॰डी॰ तमाम विदेश भ्रमण के बाद अपनी सहजता-'लाटापन' गंवाता नहीं। 'कुरु कुरु स्वाहा' का मनोहर औरों को धक्के मार शिखर पर पहुंचने वाले नुस्खे को काम का तो मानता है पर इसे अपनाने के अपराध बोध से ग्रस्त भी रहता है। उसका देहाती, कस्बाती संस्कार बचा रहता है।

'कुरु कुरु स्वाहा' और 'कसप' का लेखक अपने पाठक के साथ मुहावरों की लालबुझक्कड़ी पहेलियां इस तरह बुझाता है उसे देखकर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'कसप' के 'कवर' के लिए अपने बचपन की फोटो का इस्तेमाल करना उसी तरह संयोग नहीं जिस तरह नौब्राकोव वाले अन्दाज में 'कुरु कुरु स्वाहा' में मनोहर और जोशी जी की अदला - बदली करना और इस के लिए अपने नाम का प्रयोग। जब देवी दत्त 'कसप' के अन्तिम पृष्ठों में मैत्रेयी देवी की प्रबुद्धता पर तरस खाता है तो देवी दत्त लेखक की अपनी सामाजिक चेतना को निसंकोच मुखर करता दिखता है। वही लेखक जो 'नवभारत

टाइम्स' के 'इन्द्रधनुषीय' पन्नों में 'मेरा भारत महान' वाले स्तम्भ-कार के रूप में अवतरित होता है।:-

> इस भारत के लिए प्रतीकात्मकता ही सब कुछ है। तकली थाम लेने से गाँधीवाद हो जाता है। बन्दूक पकड़ लेने से माओवाद। सेमिनार कर लेने से संस्कृति। चुनाव करा देने से लोकतन्त्र, सड़क बना देने से प्रगति।[18]

'कसप' का देवी दत्त या 'कुरु कुरु स्वाहा' का मनोहर उर्फ जोशी जी स्तम्भ लेखक जोशी जी की तरह इस बात से सतह विचलित रहते हैं कि परिवर्तन हृदय से होता है और जो परिवर्तन हो रहा है वह उचित है या अनुचित इसका फैसला करने के लिए मस्तिष्क के उपयोग की जरूरत है। यह लेखक ऐतिहासिक भौतिकवाद की द्वन्दात्मकता से आगे निकल चुका व्यक्ति है जो परम्परा और आधुनिकता का संतुलन हृदय और मस्तिष्क के संयोग से करने का अभिलाषी है। पात्रों की जटिलता और कथानक की जटिलता (काम्पलेक्ससीटी) लगभग असंभव काम के बीड़े को उठाने से ही पैदा हुई है। चूंकि यही प्रश्न लेखक के लिए चरम महत्वपूर्ण है वह श्रमिकों, किसानों के शोषण, वर्ग संघर्ष आदि में नहीं उलझता बल्कि चुने हुए मध्यवर्गीय पात्रों के माध्यम से जीवन के विरोधाभास पूर्ण यथार्थ से स्वयं जुड़ने जूझने का अप्रत्यक्ष प्रयत्न करता है।

---

18. मनोहर श्याम जोशी, 'कसप,' नई दिल्ली, पृ. 292.

चौथा अध्याय

उपसंहार-

साहित्य का सृजन करने वाला रचनाकार समाज का एक अभिन्न हिस्सा होता है और अपने परिवेश में अछूता नहीं रह सकता, उसकी सामाजिक चेतना और उसके लेखन को अनिवार्यत: प्रभावित करती हैं और जो व्यक्तिगत मूल्य उसको निजी जीवन में प्रेरित करते हैं वे उसके लेखन में भी प्रतिबिम्बित होते हैं। कोई भी लेखक इसका अपवाद नहीं हो सकता। हां इतना अवश्य है कि कुछ लेखक अपने लेखन को सामाजिक परिवर्तन का कारगर औजार समझते हैं और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इसका सायास प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं। सामाजिक यथार्थवाद के लिए प्रतिबद्ध अधिकांश प्रगतिशील लेखकों की स्थिति ऐसी है। सोवियत संघ में बोर्सिवी क्रान्ति की सफलता के बाद गोर्की मायकोवयस्की और चीन में ल्युसुन के उदाहरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इन लेखकों की सामाजिक चेतना मुख्यत: क्रान्तिकारी राजनैतिक चेतना थी और इनकी सांस्कृतिक समझ, सूझ समता पोषक मानव मूल्यों से अभिन्न रूप से जुड़ी थी।

पर इसका अर्थ यह नहीं कि कला के लिए कला या रूपवादी बिम्बवादी रचनाकार सामाजिक चेतना से बंचित होते हैं। उनके लेखन में भी न सही प्रत्यक्ष रूप से परोक्ष रूप से उसकी अपनी सामाजिक चेतना और प्रतिबद्धता मुखर होती है। वह रोमानी हो या जादुई यथार्थवाद के पक्षधर अपने इर्द - गिर्द सामाजिक यथार्थ और संघर्ष में किसी न किसी के साथ यह भी खड़े होते हैं भले ही सामाजिक, राजनैतिक घोषणाएं नारों या चुस्ती टिप्पणियों के रूप में न की जाती हो। ऐसा नहीं समझा जा

सकता कि यह लेखक किस सिलसिले में कुछ नहीं कहता, इनकी चुप्पी भी बहुत सारी बातों को रेखांकित करती है।

टी॰एस॰ इलियट हों या इजरापाओ या इससे भी पहले 19वीं शताब्दी के आस्कर वाइल्ड जैसे लोग या फिर स्तालिन की तानाशाही का विरोध करने वाले पास्तरनाक और मैक्स स्टोग या सोलजेनेत से। इन सब ने अपनी बात असरदार ढंग से कही जरूर है। हिन्दी का साहित्य भी इन प्रवृत्तियों को दर्शाता है। यहां इस बात से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा कि इनमें कौन सा पक्ष सही है या ऐतिहासिक प्रवृत्तियों से पुष्ट होता है सिर्फ इतना ग्रहण करना काम का होगा कि लेखक की सामाजिक चेतना उसकी रचनाओं में मिलती झलकती ही है।

यहां एक और पक्ष पर रोशनी डालना परमावश्यक है- प्रगतिशील या पतनोन्मुख, क्रान्तिकारी अथवा प्रतिक्रियावादी, ऊर्ध्वगामी ओजस्वी अथवा रूग्ण जर्जर जड़ पुरातन आदि शब्द किसी भी लेखक की सामाजिक चेतना का अध्ययन विश्लेषण करने के लिए सार्थक नहीं रह गये हैं। शुद्ध साहित्यक (व्यावसायिक?) उठापटक में पिछले दशकों में इनका बुरी तरह अवमूल्यन हो चुका है। मनोहर श्याम जोशी की रचनाओं के संदर्भ में तर्कसंगत नतीजों तक पहुंचने के पहले यह आवश्यक है कि हम आधुनिक हिन्दी उपन्यास के सन्दर्भ में, वृहत्तर व्यापक दृष्टि से इसका परीक्षण करें।

वर्षों से प्रेम चन्द की प्रतिष्ठा प्रगतिशील समाजवादी क्रान्तिकारी पक्षधर लेखक के रूप में है। जयशंकर प्रसाद पौराणिक भारत के स्वर्णिम इतिहास से मुग्धाविष्ट रोमानी पलायनवादी समझे जाते रहे हैं। आज स्त्रियों की स्थिति हो या परम्परा या आधुनिकता का संघर्ष इस बारे में पुनर्विचार आरम्भ हो चुका है। अज्ञेय को किस खाँचे में रखा जाये जिनका मस्तिष्क नितान्त आधुनिक अवाँगार्द्द पहचाना जाता है और जिनका जबर्दस्त आग्रह कलावादी-रूपवादी रहा है। और फिर फणीश्वरनाथ रेणु जैसे लोग जो अनायास परम्परा और परिवर्तन का रचनात्मक संगम करते दृष्टिगोचर होते हैं। जिनका कोई हठ 'पोस्ट मार्डनिस्ट' बनने का नहीं पर जो अधुनातम साहित्यिक प्रवृत्तियों, विभिन्न कला विधाओं में किये जा रहे रचनात्मक प्रयोगों से अनभिज्ञ नहीं रहे। अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों जैसे अनन्त मूर्ति, गिरीश कर्नाड, भैरप्पा आदि का उल्लेख इस सन्दर्भ में किया जा सकता है।

इस सब को ध्यान में रखते हुए मनोहर श्याम जोशी के उपन्यासों में सामाजिक चेतना के बारे में, उनकी रचनाओं के अध्ययन मनन विश्लेषण के बाद, उनके पूर्ववर्तियों एवं समकालीनों के साथ तुलना कर कुछ तर्क संगत निष्कर्षों तक पहुंचने का प्रयत्न किया जा सकता है।

लेखक की मुद्रा सर्वत्र जल कमलवत रही है वह चला भले ही दूर देहात छोटे-कस्बे से हो पर अपनी जन्मजात प्रतिभा और सांसारिकता के कारण उसने थोड़ी उम्र में ही बहुत कुछ देख, सुन, पढ़, समझ भोग झेल लिया है। प्रधान भाव भेषा-भू वाला है और सबसे ऊंचा स्वर 'सिनी-सिज्म' का उस

पर पाखण्ड का या दोहरे मापदण्ड अपनाने का आक्षेप न लगाया जाय इसलिए बर्तोन्द के 'एलिएनेशन' वाली तकनीक का सहारा लिया गया है। जब भाव विह्वल अश्रु गद-गद (मॉडलिन) लेखक वाचक निरन्तर रो रहा होता है तो वह इस पात्र पर तटस्थ या व्यंग्यात्मक टिप्पणी भी कर रहा होता है। मेरा इस सबसे क्या वास्ता, उसका रोना उसकी इच्छा है सृष्टि के पहले शिव रुद्र के ब्रह्माण्ड भेदी रुदन सा समझा जाय (कुरु-कुरु स्वाहा में)।

डी॰ डी॰ फिल्म निर्माता है और फिल्म की तकनीक उसे पाठकों से अपनी दूरी बनाये रखने की सुविधा 'कसप' में कई जगह देती है। 'जम्प' 'कट' हो 'डिजोल्व', 'जूमिंग', 'जूम आउट' या 'पैन' या 'सिंक्रोलिज्म' का प्रयत्न छोड़ चुका 'साउण्ड ट्रैक', लेखक इन सबका चालाक प्रयोग एक कवच के रूप में करता है। जहां कहीं सामाजिक, राजनैतिक, बुनियादी सवाल उभरता नजर आता है तो ये जिम्मेदारी ऐसे किसी शिल्पगत प्रयोग के सहारे पाठक पर छोड़ देता है कि अपनी इच्छानुसार पूर्वाग्रहों और पक्षधरता के अनुसार सोचे समझे।

ऐसा भी नहीं जोशी का प्रयत्न मानवीय स्थिति (ह्यूमन कंडीशन) विषयक कुछ बुनियादी महत्व के दार्शनिक सवाल उठाने का हो। निश्चय ही उनसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे आन्द्रे माल रो या गार्बियल मारकेज या कार्लो फोवन्तेश जैसे पराक्रम साधें। पर इन रचनाओं की अनुगूंजें इतनी जगह 'कुरु कुरु स्वाहा' और 'कसप' में सुनी जा सकती हैं कि इनका अंदेखा करना कठिन है। वाद-वैदग्ध्य और शिल्प चातुर्य का प्रदर्शन इस आत्म-रति के साथ किया गया है कि वह दोनों उपन्यासों की केन्द्रीय मनीसा का प्रश्रय ही करते हैं।

जोशी जी ने निश्चय ही 'फिक्शन' को शाब्दिक अर्थ में ग्रहण किया है। ऐसा 'फिक्शन' जिसका रिश्ता सामाजिक यथार्थ से प्रतिबिम्ब वाला तो है विकृत (डिस्टॉर्टेड) प्रतिबिम्ब वाला। अर्जेन्टीना के लेखक होर्वे गुई वोर्जे की रचनाओं जैसा दुराग्रह उनके उनके मन में भी लगता है। एक फैंटाशी जो पलायन नहीं पर देश काल निरपेक्ष किसी समानान्तर ब्रह्माण्ड में प्रवेश का द्वार है। 'कुरु कुरु स्वाहा' का बालक मनोहर या जोशी जी और 'कसप' का डी॰डी॰ इसी तरह पहुंचेली या बेबी कार्ल यूंग की शब्दावली में यूनिवर्सल आर्की टाइप है। अबोध बालक अवसरवादी बौद्धिक पथ-भ्रष्ट नायिका जो लड़कैंधी, प्रेयसी मात्रि रूपा उपभोग्य वस्तु सब कुछ एक साथ है।

जोशी जी के उपन्यासों में वर्ग-भेद सिर्फ रोचक पृष्ठभूमि या संवादों को नाटकीय बनाने के लिए काम में लाया दीखता है। अपने चरित्रों की पकड़ उनकी गहरी है पर कस्बाती जीवन मूल्यों (परंपरा) और महा-नगरी संत्रास, अलगाव, टूटन संघर्षरत जीवन मूल्यों का टकराव किस्सा गोई में पर्त दर पर्त खुलने वाले चित्त विलास में खो जाता है। बल्कि चित्त विलास भी क्यों मनोरंजन ही उपयुक्त शब्द है, पर यहां यह जोड़ना जरूरी है कि मनोरंजन रसानुभूति के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा है और साहित्य का धर्म भी इसे जोशी जी के उपन्यासों की कमजोरी कतई नहीं समझा जा सकता। जोशी जी ने कहीं अपने गुरुओं को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा है- सागर ते आ किन्तु घड़े में घड़े जितना ही समाया। जोशी जी के उपन्यासों के पाठक पर भी यह बात थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ लागू की जा सकती है। जोशी जी का वाक्य विन्याशा नायक के तीर वाला है और अदा गागर में सागर भरने वाली। पाठक अपनी इच्छा-

अनुसार सामाजिक चेतना, राजनैतिक प्रतिबद्धता, सांस्कृतिक जागरूकता और मानवीय मूल्यों के पोषण के बारे में इच्छानुसार उद्धरण ढूंढ सकता है और लम्बी चौड़ी दलीलें दे सकता है। मनचाहा प्रमाणित करने के लिए यह इमानदारी का तकाजा यह है कि यह बात स्वीकार की जाय कि जोशी जी के उपन्यासों में शिल्प कौशल भाषा के साथ खिलवाड़ हमें जीवन के गुरू गम्भीर पहलुओं से भटकाते हैं, राजनैतिक लड़ाई या कटु सामाजिक यथार्थ की ओर देखने से विचलित करते हैं।

जोशी जी के पात्र बहुत अर्से तक याद रहने वाले हैं। इनके बारे में यह जरूर कहा जाना चाहिए कि एक गरिमामय करूणा मुख्य पात्रों के संदर्भ में पाठक को पलाक्ति करते हैं जिसे सामन्ती प्रतिक्रियावादी पुरातनपंथी कतई नहीं कहा जा सकता। ऐसा लगता है कि यदि अधुनातम पश्चिमी औपन्यासिक प्रवृत्तियों से होड़ लेने की कोशिश नहीं की गई होती और फिल्मी पट कथा लेखन की तकनीक का गैर जरूरी प्रयोग 'कुरू कुरू स्वाहा' या 'कसप' में नहीं किया गया होता तो यह करूणा निश्चय ही सामाजिक चेतना के संदर्भ में अधिक प्रभावमय हुई होती।

ऐसा शायद इसलिए संभव नहीं था कि जिस समय यह उपन्यास लिखे गये उस समय जोशी जी 'हम लोग' और 'बुनियाद' जैसे महत्वपूर्ण टेलीविजन धारावाहिकों की पटकथा लिख रहे थे यह सिर्फ संयोग नहीं कि इन धारावाहिकों में इसी लेखक की सामाजिक चेतना और प्रिय मूल्यों के प्रतिबद्धता अधिक प्रभावशाली ढंग से मुखर हुई है। इकबाल मसूद जैसे समालोचकों ने पौराणिक परंपरा और अत्याधुनिक मानसिकता की खिचड़ी पकाने वाली जोशी जी की प्रवृत्ति पर पहले टिप्पणियां भी की हैं। कुछ अन्य आलोचकों

ने इन कथाओं की बुनावट में गहरा आत्म-कथा तत्व भी ढूंढा है। यही जोशी जी की शक्ति है और यही उनकी सीमा।

लेखक की सामाजिक चेतना के बारे में किसी तर्क संगत निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए यह परामावश्यक है कि प्रस्तुत शोध वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में रखा जाय। इस सिलसिले में यह आवश्यक है कि जोशी जी के समवयस्क अन्य हिन्दी उपन्यासकार (विशेषकर कुमाऊँनी) क्या कर रहे थे। इनकी सामाजिक चेतना कैसे किस रूप में झलकती है? इस प्रयत्न का उद्देश्य जोशी जी के आन्तरिक सीमाओं में बांधना या बीरबल की तरह उनकी लकीर छोटी साबित करना नहीं है पर यह तुलना इसलिए आवश्यक है कि सामाजिक चेतना की सही कसौटी समकालीन समान धर्मा ही हो सकते हैं जिसे समाज शास्त्री मनोवैज्ञानिक 'पियरग्रुप' कहते हैं जिनके दबाव में रचनाकार ही नहीं आम आदमी भी अपनी व्यक्तिगत सामाजिक भूमिका निर्धारित संचालित करते हैं।

एक ओर दिनमान दफ्तर में जोशी जी के सहकर्मी थे रघुबीर सहाय श्रीकान्त और दूसरी ओर दिल्ली शहर में सक्रिय साहित्यकार उपन्यासकार मोहन राकेश, राजेन्द्र यादवऔर बीच-बीच में कमलेश्वर भी थे। कमलेश्वर और राकेश अपनी पहचान कहानीकार के रूप में बनाने में व्यस्त थे और इन दोनों प्रतिभाशाली लेखकों को साहित्यिक अखाड़े बाजी से कम फुर्सत मिलती थी पर राजेन्द्र यादव और मन्नू भंडारी ऐसी प्रतिभायें थे जिनको अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। यह सुझाना तर्क संगत होगा कि इस समय तक हिन्दी साहित्य विशेषकर उपन्यास की राजधानी इलाहाबाद से हट कर दिल्ली पहुंच चुकी थी। साठ वाले दशक के उत्तरार्द्ध में निर्मल -

वर्मा लम्बे विदेशी प्रवास के बाद दिल्ली लौट आये। निर्मल हमेशा से हिन्दी वालों में 'आउट साइडर' रहे थे। लिखा उन्होंने हमेशा हिन्दी में बहुत सजकता और शिल्प के प्रति सतर्कता के साथ। पांडित्य और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के व्यक्तिगत अनुभव में उनका मुकाबला कोई दूसरा नहीं कर सकता था। अज्ञेय भी अपने यौवन और मुख्य रचनाकाल में सारी जानकारियां अप्रत्यक्ष रूप से ही हासिल करते रहे हैं। निर्मल 'सेंट स्टीफन' के पढ़े थे और वर्षों चेकोस्लाविया में रहे थे। फ्रांसीसी जर्मन तथा अन्य पूर्वी यूरोपीय देशों की अधुनातम साहित्यिक कलात्मक गतिविधियों से जुड़े हुए थे। कभी वे मार्क्सवादी रहे थे और अब मोह भंग के बाद असहमति का स्वर असरदार रूप से मुखर कर रहे थे। चित्रकार राम कुमार वे अनुज हैं और अन्य कला विधाओं की दुनियां भी उनके लिए अपरिचित नहीं। उन पर न परिवार का बोझ था और न 'कैरियरिज्म' का दबाव। 'वेटर्न एक्टेंशन एरिया' की अपनी दुछत्ती में उपलब्ध साधनों के अनुसार अपनी जरूरतें बढ़ा-बढ़ा कर वे मजे में जिन्दगी बसर करते थे अपने मित्र खुद चुनते थे स्वभाव से शत्रु ढूंढना उनकी असमर्थता है और जब जी चाहे वे विदेश भ्रमण या शिमला उच्चतर उध्ययन संस्थान में जा सकते थे। अंग्रेजी पत्रकारों से उनकी सहज घनिष्ट मैत्री थी टाइम्स आफ इंडिया के असरदार संपादक श्याम लाल का वर्धस्त उनके कंधे पर था वे शायद अकेले ऐसे हिन्दी लेखक थे जिनकी हिन्दी रचनाओं का विस्तृत विश्लेषण श्याम लाल अपने 'लाइफ एण्ड लेटर्स' वाले प्रसिद्ध अंग्रेजी कालममें करते थे। स्वयं निर्मल अपने आलोचनात्मक लेखों का अनुवाद खुद अंग्रेजी में करते थे और 'टाइम्स आफ इंडिया' में छपते थे। इन दिनों हर हिन्दी लेखक की महत्वाकांक्षा निर्मल के बाराबर आने की रहती थी। मनोहर श्याम जोशी की स्थिति बड़ी विडम्बना पूर्ण थी एक

ओर वे अपने को बस्ती से आये सर्वेश्वर, रायपुर से आये श्रीकान्त, मैनपुरी ऐटा आगरा से आये कमलेश्वर आदि से अधिक नागर और प्रगतिशील समझते थे तो दूसरी ओर निर्मल पश्चिम से साक्षात्कार और पांडित्य में बिना चमत्कार पैदा किये बीस साबित होते थे। निर्मल को कभी कोई जरूरत सभाओं गोष्ठियों में जाकर कोई धमाका करने की नहीं पड़ी। उच्च - स्तरीय सेमिनारों में वे खुद बुला लिये जाते थे इसी तरह एक और व्यक्तित्व है कृष्णा सोपती का।

कृष्णा सोबती भारत सरकार में वरिष्ट अफसर रही ओर उन्होंने अपने तमाम उपन्यास लगभग एकान्तवासी की रहस्यमयी मुद्रा में लिखे हैं। डार से बिछुड़ी हो या मित्रोमरजानी या फिर जिन्दगीनामा- महाकाव्य का सा विस्तार लिये हुए- अपने आसपास की दुनिया के बारे में एक अदभुत संवेदनशीलता इनकी रचनाओं में दीखती है जो बिना प्रखर सामाजिक चैतन्य के असंभव है। जोशी जी की ही तरह मगर कही अधिक सालीन और अप्रत्यक्ष रूप से कृष्णा जी भी यह संकेत देती रहती हैं कि उनका अपना पारिवारिक परिवेश आभिजात्य रहा है। उन्हें नौकरी पेशा विभाजन और जन तंत्र के कारण होना पड़ा। व्यक्तिगत खानपान पहनावे मेहमान-नवाजी के बारे में कृष्णा जी खालिस ऐश्वर्य-शालिनी हैं। जब हिन्दी के अधिकांश लेखक विदेशी मुद्रा के अकाल में स्कोच के नाम भर से परिचित थे निर्मल कियान्ती की बात करते थे और कृष्णा जी वाइनों की तुलना करती थीं। इनका लेना देना हिन्दी उपन्यासकारों की शेष बिरादरी से भला कैसे रह सकता था? जोशी जी ने बड़े कौशल के साथ इन दोनों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये और बनाये रखे। कुछ

इस अन्दाज में बाकी दिल्ली वाले आप का मोल भला क्या समझते हैं पारखी और समान धर्मा तो बस एक है जिसे गमे रोजगार और गमे दौरा उपन्यास लिखने नहीं दे रहा है। यह बात मनोहर श्याम जोशी का जो रेखा चित्र कृष्णा जी ने हम हस्मत नामक संस्करण में खींचा है उससे बहुत साफ होता है। कृष्णा जी निर्मल की तुलना में फिर भी हिन्दी साहित्य की गरमा-गर्मी और राजनीति से जुड़ी रही हैं। निर्मल की बात बहुत पर्क है पर सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में शायद मनोहर श्याम जोशी से उनकी तुलना अधिक सटीक है।

आकसेशन की सीमा तक अन्तर्मुखी और एकान्त प्रेमी समझे जाने वाले निर्मल अवसर आने पर चुप नहीं रह सकते और उनका सामाजिक चैतन्य उनको व्यक्तिगत जोखिम उठा कर भी आवाज उठाने को मजबूर करता है। आपात काल के दौरान उन्होंने सेमिनार में लिखना जरूरी समझा यह वह दौर था जब मनोहर श्याम जोशी श्रीकान्त जी की मैत्री वश या दूरदर्शी समझदारी के साथ बिरला संस्थान की नौकरी की वजह से आपात काल के समर्थन के लिए एक शिष्ट मंडल ले इंदिरा गांधी के दरबार में पहुंचे थे (इस शिष्ट मंडल के अन्य सदस्य श्रीमती शीला सिन्धु, कृष्णा सोपती स्वयं श्रीकान्त वर्मा एवं पुष्पेश पंत)

हिन्दी साहित्य में अपनी जगह बना चुके अन्य कुमाऊँनी लेखकों में जोशी जी और बहुत प्रतिष्ठित नामों के बाद सामने आये हैं। शेखर जोशी अपनी क्लासिक कहानियों के कारण ही जाने जाते हैं पर शिवानी और शैलेश मटियानी ऐसे नाम हैं जो अनदेखा नहीं किये जा सकते। शिवानी की लोकप्रियता और फार्मूला पत्र लेखन उन्हें गम्भीर साहित्य लेखक के

रूप में आसानी से स्वीकार नहीं होने देता किन्तु शैलेश मटियानी के संग ऐसी कोई अड़चन नहीं। उन्होंने जोशी जी की ही तरह बम्बई के फूटपाथ के जीवन को बहुत पास से देखा है और कुमाऊँनी ग्रामीण कस्बाती जीवन के बारे में भी उनकी अन्तरदृष्टियाँ बहुत पैनी हैं। मटियानी का सामाजिक चैतन्य उनके अपने परिवेश और अनुभव के कारण क्रान्तिकारी ही हो सकता था पर दुर्भाग्यवश जीविकोपार्जन के लिए लेखक को व्यावसायिक बनाना उनके लिए बेहद दुर्भाग्यपूर्ण साबित हुआ। लिखना और छपाना उनकी मजबूरी बनी और एक खास तरह के उपन्यासों की सफलता ने उनके पाठक वर्ग को सिर्फ आंचलिक बना दिया। मनोहर श्याम जोशी के सन्दर्भ में शैलेश मटियानी की बात करना जरूरी है। यदि 'पोस्ट मार्क्सिलिस्ट' चैतन्य और अत्याधुनिक संत्रास, अवांगार्द प्रयोग आदि की परख निर्मल के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है तो आंचलिक वातावरण ग्रामीण कस्बाती दूर्वाजड़ों और रामसी द्वारा प्रदर्शित 'ओरगेनिक इंटलेक्चुअल' के सन्दर्भ में यह बात शैलेश मटियानी को सामने रखते हुए ही की जा सकती है। यह एक मजेदार और महत्वपूर्ण बात है कि विचारधारा के सैद्धान्तिक पक्षों को लेकर लेखक मनोहर श्याम जोशी और समाज शास्त्री पूरनचन्द्र जोशी में हमेशा मतभेद रहा है और अक्सर एक गर्म बहस छिड़ी रहेगी। पी॰सी॰जोशी सामाजिक क्रान्ति के सांस्कृतिक पक्ष को बेहद महत्वपूर्ण समझते हैं और अपने मार्क्सवादी रूझान पक्षधरता के बावजूद इस 'सुपर स्ट्रक्चर' को 'इन्फ्रा स्ट्रक्चर' से कम महत्वपूर्ण नहीं समझते। वे महानगरीय संत्रास से उत्पन्न रोगों की दवा सनातनी 'नोस्टेलजिया' या आंचलिकता नहीं मानते। दूसरी ओर पोस्ट मार्क्सिलिस्ट जोशी जी के उपन्यासों की जान तिलस्म वाली कहानियों के पिंजरे में रहने वाले तोते की तरह तंत्र-मंत्र की दुरूह-ग्राह्य आरकेन जानकारी,

गंवाये 'इनोसैन्स' और कस्बाती बचपन की निरीहता को फिर से जिन्दा करने में ही बसती है। कुछ ऐसा ही है जैसे शहरों में रहने वाले उच्च वर्गीय अपनी भारतीयता की पहचान सिर्फ एथनिक-चिक के जरिये बचा सकते हैं।

हमें किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचने की जल्दबाजी नहीं इन सभी बातों की कैनवास पर खींची गयी चौड़ी रेखाओं की तरह समझा जाना चाहिए जिनके माध्यम से जोशी जी की सामाजिक चेतना को उभारा जा सके उसके सही रंग उभरती आकृतियों में भरे जा सकते हैं। हमारी समझ में अल्मोड़ा, अजमेर, लखनऊ, बम्बई उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना दिल्ली सहयोगी सहकर्मी और समानधर्मा प्रतिद्वन्दी व्यक्तियों की रचनायें, इसको ध्यान में रखते हुए ही 'कुरु कुरु स्वाहा' और 'कसप' का अध्ययन विश्लेषण कियाजाना चाहिए।

दोनों उपन्यासों में शीर्षक ही इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि एक ओर जोशी जी ब्राह्मण पुरोहिती अंदाज में अपने पुस्तैनी अधिकार को 'इनवोक' कर रहे हैं 'औथोरोटेटिव' ढंग से हांकने या पाठक को भूल - भुलैयया में भटकाने पेशेवर राजनैतिक लेखकों आलोचकों का मुंह बन्द करने, उन्हें असमंजस में डालने 'अनफेमलीयर टैरेटरी' में लेजा कर और एक 'नोस्टेलजिया' का सहारा ले रहे हैं। एक भाव विह्वल प्रेम कथा के जरिये क्योंकि आखिर 'वहां' अमरीका में भी तो 'लव स्टोरी' व्यस्ट सेलर होती है या लोग अपनी 'रूट्स' को तलाश करते हैं। सामाजिक चेतना के बारे में जोशी जी की घोषणाओं, स्वीकारोक्तियों, शोध कर्ताओं की स्थापनाओं

को नमक की चुटकी के साथ ही ग्रहण किया जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि दोनों ही उपन्यासों की रचना देरे से मंच पर प्रकट होने के बाद भी मजमा मुशायरा लूट ले जाने की रणनीति के अनुसार हुई अन्तर्राष्ट्रीय पाठकीय पेशंन का निर्वाह और हिन्दी परम्परा के अनुसार अदभुत 'टाइमिंग' के साथ इनके प्रकाशन में हुआ है। जोशी जी समाकलन बहुत 'कैलकुलेटेड' ढंग से अपने 'कैरियर' के मध्य बिन्दु पर इनका साहित्यिक और सांसारिक उपयोग करना चाहते हैं। उपन्यासों की रचना तभी हुई जब वे वहैसियत पत्रकार चीन, सोवियत संघ, जर्मनी, अमरीका, इंग्लैंड आदि का जन सम्पर्क साधने वाला दौरा पूरा कर चुके थे और इन रचनाओं के अनुवार की जमीन तैयार हो चुकी थी।

एक बार फिर इस बात को स्पष्ट किया जाना जरूरी है कि उपर्युक्त विश्लेषण सिर्फ इसीलिए किया जा रहा है कि सामाजिक चेतना वाला प्रश्न वस्तु निष्ठ ढंग से टटोला जा सके। किसी भी टिप्पणी का उद्देश्य जोशी जी के प्रति पूर्वाग्रह तिरस्कार या उनके अवमूल्यन की भावना नहीं। उनकी तुलना कई मायनों में सम-सामयिक अमरीकी साहित्यकार 'जोन अपडाइक' से की जा सकती है जिन्होंने वर्तमान अमरीका के यथार्थ पर चुस्त मनोरंजक टिप्पणियाँ की हैं। उनके उपन्यास अदभुत मनोरंजक हैं, क्लासकीय मनोविनोद से आभूषित और टंग इन चीक विशेष प्रयोगों के कारण चुल-चुलाने वाले। संवेदना अत्याधुनिक है पर तेवर आर्थडौक्स कंजरवेटिव। उन जैसे लेखकों की सामाजिक चिन्तायें तो हैं पर वे अपने को परम्परागत सही मूल्यों का रखवाला समझते हैं और क्रान्ति उन्हें भीड़ का खतरनाक विप्लव ही दीखती है। आज जब मार्क्स-

वादी क्रान्ति संकटग्रस्त हैं तो ऐसे लेखकों को शायद वास्तव में यह लगता है कि उनका लेखन समाज को दिशा दे सकता है खतरों से आगाह कर सकता है परम्परा और सामाजिक परिवर्तन के बीच सेतु बन सकता है। पर इस दावे को स्वीकार करने के पहले रचनाओं का वस्तुनिष्ठ परीक्षण किया जाय तभी यह बात स्पष्ट होगी (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में) शव धारणा के बाद शिव में बदला है कि नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं कि मझले दर्जे की सिद्धियों के लालच में ही लेखक साधक ने अपनी रचनात्मक आध्यात्मिक पूंजी को गवा दिया? यह भी संयोग नहीं समझा जा सकता कि मनोहर श्याम जोशी जी की तरह जौन को भी तामम बौद्धिक व्यायाम के बाद सौलबेलो के मुकाबले का दिमाग नहीं समझा जाता, नहीं माना जाता।

इस सर्वेक्षण के बाद हम 'कुरु कुरु स्वाहा' और 'कसप' में झलकने वाली लेखक की सामाजिक चेतना का परीक्षण तर्क संगत ढंग से कर सकते हैं और सार्थक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि मनोहर श्याम जोशी की सामाजिक चेतना अपनी युग चेतना के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी है। यह युग चेतना आजादी के बाद के वर्षों में नेहरू युग के चरमोत्कर्ष वाली है। जिसमें पूरब और पश्चिम के बीच सेतु निर्माण के साथ-साथ परंपरा और परिवर्तन के बीच संतुलन बनाये रखने की चुनौती सहर्ष, सोत्साह स्वीकार की गई थी। यह वह पीढ़ी थी जो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उत्साहित थी- पश्चिमी यूरोप में युद्ध से थकी हताश पीढ़ी से बिल्कुल भिन्न। यह भारतीय नेहरू को गांधी को सुधारवादी समझते थे और इनकी सहानुभूति अपनी प्रगतिशीलता के कारण साम्यवादी विचारधारा के साथ थी। राजनीति में भ्रष्टाचार के

के विरुद्ध इन लोगों ने मुहिम छेड़ी थी तो सामाजिक जीवन में दोहरे मान दण्डों और पाखंड के विरुद्ध भी ये मुखर थे।

पर युग चेतना का स्वरूप बदलता रहता है ऐतिहासिक शक्तियों से संचालित घटनाक्रम के अनुसार। आर्थिक विकास की गति धीमी पड़ गयी और अपनी सदाशयता के बावजूद नेहरू की कांग्रेसी सरकार सामाजिक न्याय आम आदमी तक पहुंचाने में असमर्थ रहे। नई पीढ़ी का मोह भंग सिर्फ नेहरू से ही नहीं हुआ यह वह दौर था जब भारतीय साम्यवादी संसदीय मार्ग से क्रान्ति लाने की बातें करने लगे थे रणदेवे और कॉमरेड पी॰सी॰ जोशी में फूट पड़ चुकी थी और सोवियत संघ में स्तालिनवाद का क्रूर चेहरा सामने आ चुका था। बहुत सारे समझदार प्रतिभाशाली अवसरवादी ढंग से सुविधा परस्त हो चुके थे। व्यक्तिगत जीवन में समझौता करना समझदारी मान रहे थे। जुझारू क्रान्तिकारिता का स्थान सिनिसिज्म ने ले लिया था। मनोहर श्याम जोशी का रचना कार इन्हीं दिनों परिपक्व हो रहा था, इन्हीं सामाजिक, राजनैतिक दबाओं प्रभाओं ने उनकी नैसर्गिक संवेदनशीलता को अनुकूलित किया और उनकी प्रतिभा को दिशा दी।

जोशी जी के दोनों ही उपन्यासों में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि रचनाकार मूलत: मार्क्सवादी रुझान वाला व्यक्ति है और कभी पार्टी का सहयात्री रह चुका है। पर वह इतना बुद्धिमान है और ईमानदार भी कि कठमुल्ले मार्क्सवादी पाखण्ड को चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर सकता और न ही राजनैतिक पत्तों को अपनी कलम पर काबू पाने दे सकता है। भले ही वह पार्टी के सदस्य खास विचारधारा के व्याख्याकार लेखकों

की तरह वर्ग संघर्ष का जिक्र सपाट बयानी के साथ नहीं करता और न ही इन उपन्यासों में प्रमुख पात्र के रूप में सर्वहारा श्रमिक-कृषक वर्ग के किसी सदस्य को प्रस्तुत नहीं करता यह बात भी सर्वत्र उजागर रहती है कि कथाक्रम का विकास और चरित्र चित्रण वर्ग विभाजन पर ही आधारित है। जीवन का यह सबसे बड़ा महत्वपूर्ण यथार्थ आर्थिक है और इसी के अनुसार तमाम व्यक्तिगत पारिवारिक रिश्ते बनते बिगड़ते बदलते हैं। 'कुरु कुरु स्वाहा' की पहुंचेली हो या मनोहर या 'कसप' में डी॰डी॰ बेबी और गुलनार इन सभी का आचरण कमोबेश अपने वर्ग चरित्र और वर्गीय स्थिति के अनुसार होता है। यह सभी निम्न मध्यवर्गीय, मध्य-वर्गीय पात्र हैं और जन्म जात पारिवारिक परिवेश परिस्थितियां ही इन्हें वर्ग सीमा का अतिक्रमण करने का अवसर देती हैं। अंग्रेजी शिक्षा गांव से कस्बे और कस्बे से महानगर फिर महानगर से विदेश पहुंचने का मौका मिलना वर्तमान भारतीय मध्यवर्गीय स्त्री या पुरुष के लिए भी संभव है।

इन दोनों उपन्यासों में जो पात्र जीवन में पिछड़ जाते हैं गुजरे समय में थमे ठिठके कैद रह जाते हैं वे या तो निम्न वर्गीय गरीब रिश्ते-दार हैं या दुर्भाग्य के मारे। विधवा मां हो, गरीब बीमार बुवा या निरन्तर कष्ट पाने वाले रिश्ते की बहन मुंह बोली भाभी या बचपन का दोस्त बब्बन उसका फटेहाल लड़का- इन सब के माध्यम से लेखक पाठक को यही संदेश देता दीखता है कि प्रतिभाशाली मध्यवर्गीय व्यक्ति स्त्री हो या पुरुष तभी सफल या सुखी हो सकता है जब वह अपना स्वार्थ साधन व्यक्तिगत रूप से आत्म केन्द्रित होकर करे। तभी वर्गीय हित

साधन के बोझ से वह मुक्त हो सकता है पर यह समझना गलत होगा कि उपन्यासों में लेखक अवसरवादी स्वार्थ साधन की हिमायत करता है। 'कुरु-कुरु स्वाहा' में मनोहर उर्फ जोशी जी हों या 'कसप' का देबिया उर्फ डी॰डी॰ सफल होने के बाद भी एक तरह का अपराध बोध इन्हें ग्लानिग्रस्त रखता है और इन्हें गैर दुनियांदार ढंग से अपने जरूरतमंद परिचितों के प्रति मददगार बनाये रखता है। इन दोनों पात्रों की संवेदन-शीलता रोजमर्रा की जिन्दगी में विरोधाभासों के प्रति बरकरार रहती है और ऊपर से दुर्बल और भावुक नजर आने वाले उन पात्रों गरिमा प्रदान करती है।

लेखक की सामाजिक चेतना का एक विशिष्ठ पक्ष नारी पात्रों के निरूपण में सामने आता है। नारी के बारे में उसका रूझान एक साथ पारंपरिक रोमानी फैन्टेशी वाला तथा नारी मुक्ति का समर्थक दीखता है। पहुंचेली को लगभग अविश्वसनीय रूप से मायावी बनाया गया है रहस्यमयी तंत्र साधिका और वेश्या का अद्भुत सम्मिश्रण। गुलनार भी कुछ विचित्र ही है मुंहफट समलैंगिक पर अवसरानुसार समर्पित प्रेमिका मां की तरह वत्सल्य कोमल हृदयमित। बार बार छले जाने के बाद भी, पुरूषों द्वारा शोषित होने के बाद भी पहुंचेली और गुलनार भी स्त्रियोचित ममता से वंचित नहीं। मनोहर या डी॰डी॰ की प्रगति का मार्ग ये नारी पात्र ही प्रशस्त करते हैं। कहने को यह कह सकते हैं कि यह दोनों पात्र भी मूलत: मध्य-वर्गीय हैं पर इनका आचरण ढर्रे पर बंधा हुआ नहीं। इनका सारा आकर्षण वर्ग द्वारा परिभाषित निश्चित भूमिका से बगावत करने के कारण ही उपजता है। इसके बिल्कुल बिपरीत बेबी का उदाहरण है जो बचपन में

लड़ाकू-विद्रोही नजर आती है पर डी॰डी॰ के साथ संबंध विच्छेद के बाद समझदार सफल पत्नी और मां बन जाती है। यह कायाकल्प पढ़ी-लिखी मध्यवर्गीय भारतीय नारी की नियति बतायी गयी लगती है।

निम्न मध्यवर्गीय नारियां इन दोनों उपन्यासों में निरीह, पराश्रित, कष्ट सहिष्णु, दिन काटती दृष्टि गोचर होती हैं। इनका चित्रण लेखक ने मर्मस्पर्शी ढंग से पूरी सहानुभूति के साथ किया है। जिससे यह प्रमाणित होता है कि लेखक यही चाहता है कि आदर्श नारी पारंपरिक और अत्याधुनिक के बीच की ही कोई चीज हो सकती है।

दोनों ही उपन्यासों के कथानक महानगरों या कभी कभार कस्बों में घूमता है और प्रमुख पात्रों के पारिवारिक परिवेश के बाहर का यथार्थ पाठक के लिए अदृश्य ही रहता है। जातिगत वैमनस्य या साम्प्रदायिक हिंसा इन उपन्यासों में कहीं नहीं झलकती। पात्रों के आपसी वार्तालाप में जो राजनैतिक वहस गर्म होती है वह भी बौद्धिक बेईमानी, राजनैतिक भ्रष्टाचार और छद्म आधुनिकता के गिर्द ही सिमटी रहती है। यह निष्कर्ष निकालना अन्यथा नहीं कि लेखक की दृष्टि में ये ही ऐसे मुददे हैं जो आधुनिक भारत के सांस्कृतिक जीवन में सबसे महत्वपूर्ण हैं और इनके बारे में अपनी पक्षधरता ईमानदारी के साथ हल किये बिना वर्ग संघर्ष आदि का चर्चा करना सिर्फ शब्दाडम्बर हैं। पर इस बात में कोई संदेह नहीं कि दोनों ही उपन्यास मानव की गरिमाऔर जीवन की दुखद त्रासदी पर विजय पाने वाली करुणा के प्रति आस्थावान है और इनका मूल स्वर प्रेरक आशावादी अन्तत: प्रगतिशील ही है। यह प्रगतिशीलता आयातित नहीं इसकी जड़े इस देश की मिटटी में गहरी दबी हैं और लेखक की सामाजिक चेतना का परंपरा प्रेम पुरातनपंथी मेंनहीं, आधुनिकता को परिवर्तन को देशी रंग में ढालने वाला है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

उपन्यास :-

1. अमृतलाल नागर

अमृत और विष — लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971
बून्द और समुद्र — किताब महल, इलाहाबाद, 1964

2. अज्ञेय -

शेखर : एक जीवनी — सरस्वती प्रेस, वाराणसी, 1966

3. इलाचन्द्र जोशी-

जहाज का पंछी — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1950
सन्यासी — भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं0 2016 वि0

4. उपेन्द्रनाथ अश्क -

गिरती दीवारें — नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1947
गर्मराख — नीलाभ प्रकाशन "इलाहाबाद, 1952
शहर में घूमता आईना — नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1963

5. कमलेश्वर-

बदनाम गली — 1966
डाक बंगला — राजपाल एण्ड संस, दिल्ली 1974

6. कृष्णा सोबती-

डार से बिछुड़ी — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,

7. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित-

कटा हुआ आसमान

8. जयशंकर प्रसाद-

कंकाल — भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं0 2022 वि0
तितली — भा. भ., इलाहाबाद, सं0 2023 वि0

9. जैनेन्द्र कुमार-

सुनीता — पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1973
त्यागपत्र — पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1970

10. धर्मवीर भारती-

गुनाहों का देवता — साहित्य भवन, इलाहाबाद
सूरज का सातवां घोड़ा — भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1963

11. निर्मल वर्मा-

वे दिन — राज कमल प्रकाशन, दिल्ली, 1976
एक चिथड़ा सुख

12. फणीश्वरनाथ रेणु-

मैला आंचल— राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973
जुलूस — भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, वाराणसी, 1965
परती परिकथा — राजकमल प्रकाशन, 1966

13. भीष्म साहनी-

तमस —

14. भगवती चरण वर्मा-

सबहिं नचावत राम गोसाईं — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1970
टेढ़े मेढ़े रास्ते — भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं0 2011 वि0
रेखा — राजकमल प्रकाशन, 1964 (तृ0 सं0)
वह फिर नहीं आई — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1960

15. मनोहर श्याम जोशी-

कुरु कुरु स्वाहा — राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि॰, नई दिल्ली, 1980
कसप — राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1982

16. यशपाल-

झूठा सच — विप्लव कार्यालय, लखनऊ, चतुर्थ सं0
देशद्रोही — विप्लव कार्यालय, लखनऊ, 1943

17. रांगेय राघव-

विषादमठ — राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1973

18. राजेन्द्र यादव-

सारा आकाश — अक्षर प्रकाशन, 1951
उखड़े हुए लोग — अक्षर प्रकाशन, 1970

19. शिवप्रसाद सिंह-

अलग-अलग वैतरणी — लोकभारती प्रकाशन, 1970

20. शैलेश मटियानी-

हौलदार — आत्माराम एण्ड संस, — 1961
बोरी बली से बोरी बन्दर तक— 1966
चिट्ठीरसैन — आत्माराम एण्ड संस, 1961

21. श्रीलाल शुक्ल-

राग दरबारी — राजकमल प्रकाशन, 1968

आलोच्य ग्रन्थ

1. डॉ. अतुलवीर अरोड़ा — आधुनिकता के सन्दर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास, पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़, 1974

2. ओंकारनाथ श्रीवास्तव — हिन्दी साहित्य परिवर्तन के सौ वर्ष

3. इन्द्रनाथ मदान — आज का हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1966

4. डॉ. कुंवरपालसिंह — हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना, राजकमल प्रकाशन

5. डॉ. चण्डी प्रसाद जोशी — हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन, अनुसन्धान प्रकाशन, 1962, कानपुर

6. चन्द्रकांत बांदिवडेकर — उपन्यास : स्थिति और गति

7. नन्ददुलारे वाजपेयी — हिन्दी उपन्यास बीसवीं शताब्दी— वाराणसी, विद्यामंदिर, 1949

8. डॉ. पुरुषोत्तम दुबे — व्यक्ति चेतना और स्वातन्त्र्योत्तर, हिन्दी उपन्यास, अनुपमा प्रकाशन, बम्बई, 1973

9. डॉ. प्रमिला कपूर — भारत में विवाह और कामकाजी महिलाएं

10. डॉ. प्रेम कुमार — समकालीन हिन्दी उपन्यास : कथ्य विश्लेषण, इन्दु प्रकाशन, 1983

11. डॉ. बालकृष्ण गुप्त — हिन्दी उपन्यास :सामाजिक सन्दर्भ

12. डॉ. बलभद्र तिवारी — आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका

13. सं0 भैरवप्रसाद गुप्त — कथा के रचनात्मक शिल्प : नई कहानियां

14. डॉ. महाजन एवं डॉ. सेठी — भारत का संवैधानिक इतिहास

15. सं0 महीपसिंह (ले.डॉ. गोपाल) हिन्दी उपन्यास : समकालीन परिदृश्य

16. रामदरश मिश्र — हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968

17. डॉ. रामगोपाल सिंह चौहान — आधुनिक हिन्दी साहित्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1965

18. डॉ. रमेश तिवारी — हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन

19. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा — हिन्दी गद्य के निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट

20. डॉ. राजेन्द्र प्रताप — हिन्दी उपन्यास : तीन दशक, कौशल प्रकाशन; नई दिल्ली, 1983

21. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय — हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1970

22. स०ही०वा० अज्ञेय — आत्मनेपद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960

23. डा. सुभद्रा — हिन्दी उपन्यास : परम्परा और प्रयोग, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, 1974

24. डा. सुमित्रा त्यागी — स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में जीवनदर्शन, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली 1978

25. डा. सुरेश सिन्हा — हिन्दी उपन्यास : उदभव और विकास, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1965

26. डा. सुषमा धवन — हिन्दी उपन्यास — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1961

27. डा. स्वर्णलता — स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, विवेक पब्लिशिंग आउस, जयपुर, 1975

28. श्रीमती सरला दुबे — सामाजिक विघटन तथा सुधार

20. डा. क्षमा गोस्वामी — नगरीकरण और हिन्दी उपन्यास, जयश्री प्रकाशन, दिल्ली, 1981

30. डा. वेदप्रकाश शर्मा — बदलते जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में हिन्दी उपन्यास साहित्य का विशेष अध्ययन, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध

31. डा. विजयमोहन सिंह — आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना

पत्रिकाएं-:

1. आलोचना

2. नवभारत टाइम्स : दिल्ली

3. हंस

4. साप्ताहिक हिन्दुस्तान

अंग्रेजी पुस्तकें :-

1. ए.आर. देसाई - सोसियल बैकग्राउण्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पोपुलर प्रकाशन बम्बई.

2. एस.सी. दूबे - इंडियाज चेंजिंग विलेजेज, 1958.